पाणिनीय-शिक्षा

(विस्तृत शोधपूर्ण हिन्दी व्याख्या)

सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार

विद्यासागर डॉ० दामोदर महतो

Deepali

पाणिनीय-शिक्षा

(विस्तृत शोधपूर्ण हिन्दी व्याख्या)

सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार

विद्यासागर डॉ० दामोदर महतो

एम०ए० (संस्कृत, उर्दू, फारसी), पी-एच० डी०, वेदनैरुक्ताचार्य
(लब्धस्वर्णपदक, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी), रीडर, संस्कृत विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कलकत्ता, बंगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना

प्रथम संस्करण : १९९०
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९९९

मोतीलाल बनारसीदास
४१ यू० ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
८ महालक्ष्मी चैम्बर, वार्डेन रोड, मुम्बई ४०० ०२६
१२० रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, चेन्नई ६०० ००४
सनाज प्लाजा, १३०२, बाजीराव रोड, पुणे ४११ ००२
१६ सेन्ट मार्क्स रोड, बंगलौर ५६० ००१
८ केमेक स्ट्रीट, कलकत्ता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

मूल्य : रु० २२

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली ११० ००७
द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५, नारायणा, फेज-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

पूजनीया

माँ

को

सादर समर्पित ।

—दामोदर

भूमिका

वेदाङ्गों में 'शिक्षा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री मनमोहन घोष ने 'शिक्षा' का रचना काल प्राय: १००० से ६०० ई० पूर्व माना है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने शिक्षा ग्रन्थों की रचना ८०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व के मध्य मानी है। भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य सामान्य ध्वनि-विज्ञान माना जा सकता है। शिक्षा ने सभी प्राप्त ध्वनियों का विश्लेषण किया है।

कुछ लोग 'पाणिनीय शिक्षा' को पाणिनि के अनुज 'पिङ्गल' की रचना मानते हैं। डब्ल्यू० एस० एलेन ने कहा है कि—"वर्तमान पाणिनि शिक्षा न तो सबसे प्राचीन है न पाणिनि-रचित। इस ग्रन्थ के उपक्रम में **"अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा"** की उक्ति तथा उपसंहार में **"येनाक्षर-समाम्नायम्"** इस श्लोक से पाणिनि की प्रशस्ति गाथा भी यही प्रमाणित कर रही है कि यह प्राप्त शिक्षा पाणिनिकृत मूल ग्रन्थ नहीं है"—[1] (The most important of them the so called Panini Siksha is sometimes claimed as the original Siksha and in Consequence put back to a very early date. But this as also its attribution to Panini is highly doubtful."

शिक्षा का प्रथम सोपान वर्णशिक्षा है। ऋक्-प्रातिशाख्य को भी वर्णशिक्षा नाम से पुकारा गया है :—

"निन्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम्।"

'शिक्षा' का अर्थ सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में किया है—

"वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।"

अर्थात् जिसमें वर्ण, स्वर आदि उच्चारण प्रकारों का उपदेश हो, उसे 'शिक्षा' कहते हैं।

---

१. 'भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि'—पृ० ६४–६५

डॉ० रामदेव त्रिपाठी ने सुझाया है कि पाणिनि-शिक्षा का सर्वोत्तम संस्करण डॉ० मनमोहन घोष का ही माना जाता है। उनके अनुसार मनमोहन घोष ने पाणिनि-शिक्षा के छह रूप बताये हैं;

१. संस्कृत मूल १८ श्लोकों वाला,
२. अग्निपुराणान्तर्गत २१ श्लोक वाला,
३. पञ्जिकाभाष्य सहित २३ श्लोकवाला,
४. शिक्षाप्रकाश व्याख्यासहित ३२ श्लोकवाला,
५. यजुःशाखीय ३५ श्लोकवाला तथा
६. ऋक्शाखीय ६० श्लोकवाला।

जबकि स्वामी दयानन्द ने "वेदाङ्ग प्रकाश" भाग १ के रूप में 'पाणिनीय शिक्षा' का एक भिन्न ही संस्करण निकाला है—

"वर्णोच्चारणशिक्षा" यह श्लोकबद्ध नहीं, सूत्रबद्ध है। इसमें ८६ सूत्र हैं, जिनमें दो-चार श्लोक भी हैं।

शिक्षा शास्त्रों में 'पाणिनीय शिक्षा' ही प्रामाणिकतम तथा प्राचीनतम है, शेष बहुत बाद की हैं। "क्रिटिकल स्टडीज' में डॉ० वर्मा ने ६५ शिक्षा ग्रन्थों को स्वयं देखने की बात कही है लेकिन उन्होंने उनका नाम नहीं गिनाया। 'शिक्षासंग्रह' में ३२ शिक्षाग्रंथों का संग्रह है जिनमें २८ के नाम उपलब्ध हैं,

१. वासिष्ठी—ऋग्-यजुष् का विभाग है। कुल यजुष् २८८३ हैं।
२. कात्यायनी—उदात्तादि स्वरों का विचार।
३. पाराशरी—१६० श्लोक हैं, पर वर्ण-विचार नहीं है।
४. माण्डव्य शिक्षा—१३० श्लोक हैं।
५. लघ्वमोघानन्दिनी—१७ श्लोक हैं।
६. माध्यन्दिन शिक्षा—४० श्लोक
७. लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा—२८ श्लोक; ष का ख तथा य का ज उच्चारण किया गया है।
८. अमरेशी वर्णरत्नप्रदीपिका—वर्ण विचार है। स्वर विचार है। सन्धि विचार है तथा २२६ श्लोक हैं।

९. केशवी सूत्रात्मिका—९ सूत्र
१०. केशवकृता पद्यात्मिका—२१ श्लोक
११. मल्लशर्यकृता—६५ श्लोक
१२. स्वरांकुश शिक्षा—२५ श्लोक
१३. षोडशश्लोकी रामकृष्णविरचिता—१६ श्लोकी।
१४. कात्यायनप्रणीत स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा—४२ श्लोक
१५. अवसाननिर्णयशिक्षा
१६. क्रमसन्धान शिक्षा
१७. गलदृक शिक्षा—ऋचाओं के लुप्त होने का संकेत।
१८. मनःस्वार शिक्षा।
१९. प्रातिशाख्य प्रदीप—स्वर/सन्धि/जटा, घन पाठ।
२०. यजुर्विधान शिक्षा—६ अध्याय।
२१. स्वराष्टक शिक्षा—वर्ग/स्वर/सन्धि/प्रत्याहार सूत्र
२२. क्रमकारिका शिक्षा—९२ श्लोक।
२३. पाणिनीया शिक्षा—६० श्लोक
२४. शिक्षाप्रकाश—पा० शि० की ही प्रकाश टीका।
२५. नारदी शिक्षा—३१ श्लोक
२६. सामवेदीया गौतमी शिक्षा—संयोगों का विचार है।
इनमें ०२ से ०७ व्यञ्जनों तक के संयोग का विचार है।
२७. सामवेदीया लोमशी।
२८. अथर्ववेदीया माण्डूकी आदि।

युधिष्ठर मीमांसक ने अपने "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" में शिक्षा ग्रंथों की चर्चा नहीं की है।

डब्ल्यू० एस० एलेन ने कहा कि "स्वीट ने भाषाविज्ञान को वहाँ से पकड़ा है जहाँ भारतीय भाषाविज्ञानियों ने इसे पहुँचा छोड़ा था।" (Generally, We may say that Henry Sweet takes over where the Indian

treatises leave off those in some matters even Sweet Could have learnt From them .....)

एलेन ने तो यह भी स्वीकारा है कि "प्राचीन भाषाविज्ञानियों को मध्ययुग या उन्नीसवीं सदी के लोगों ने उतना नहीं समझा जितना बीसवीं सदी के आचार्यों ने।" उन्होंने यह भी स्वीकारा कि "इन प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिकों का कोई व्याख्याता उन-सा प्रतिभाशाली सूक्ष्मदर्शी नहीं हो सका, एकमात्र अपवाद उव्वट हैं; जिनकी 'ऋक्-प्रातिशाख्य' या "वाजसनेय-प्रातिशाख्य" की व्याख्या बुद्धिमत्तापूर्ण तथा अनेक ध्वनिविज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों पर प्रकाश डालने वाली है।"

(The one outstanding exception to the general medio-erity of the Indian Commentators is Uvata whose interpretations of the R. P. and V. P. reveal an entightened and enlightening upproach to a variety of phonetic topics)

यह भी स्पष्ट है कि भारतवर्ष में व्याकरणलेखकों ने ध्वनिविज्ञान के आचार्यों की पुस्तकों से बहुत लाभ उठाया है जब कि यह सुविधा यूरोपीयों को नहीं मिली। भगवान् पतञ्जलि ने स्वयं स्वीकारा है कि—

"किसी भी भाषा की ध्वनियों का पर्याप्त अध्ययन हो जाने के बाद ही उसके व्याकरण का अध्ययन होता है।"

"व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या। योऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते।" यहाँ 'छन्दःशास्त्रेषु' का अर्थ उद्योत ने "प्रातिशाख्यशिक्षादिषु" लिया है अर्थात् प्रातिशाख्य-शिक्षा आदि ध्वनिविज्ञान पढ़कर ही व्याकरण पढ़ा जाता है। सचमुच शिक्षा वेद की नाक है—

—"शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।" और व्याकरण को मुख कहा गया— "मुखं व्याकरणं स्मृतम्।" नाक रहित होना (नाक कटना) मुहावरा सर्वविदित है। यदि नाक रूपी शिक्षा कट गयी तो वेद की सारी मर्यादा, सारा अर्थ अनर्थ में विपरिणत हो जायेगा, क्योंकि वर्णों का सम्यक् ज्ञान नहीं होने पर

मन्त्रों का पाठ दुरुस्त नहीं कर सकेंगे और वर्ण-दोष या स्वर-दोष होने पर वही वाणी वज्र होकर पाठक का सर्वनाश कर देती है—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥"

वर्णों की संख्या

शिक्षा को वर्णोच्चारण शिक्षा कहा गया है। शिक्षा में ध्वनि का सर्वाधिक विस्तृत विश्लेषण किया गया है। संस्कृत-प्राकृत आदि में प्रयुक्त कुल वर्णों की संख्या ६३ या ६४ है।

"त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते-संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुना ॥"

यही मत शंकर का है--

"शंकरः शांकरीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः ॥"

इससे पता चलता है कि शिक्षा में आदि गुरु शंकर ही हैं जिन्होंने अपने चतुर्दश सूत्रों द्वारा पाणिनि को इन ध्वनियों का रहस्य बताया। फिर पाणिनि ने उसके आधार पर यह शिक्षा बनायी और शेष सारी शिक्षाएँ इसके आधार पर बनीं।

६३ या ६४ वर्ण कौन-कौन-से हैं। इसपर आचार्य ने गिनाया है—**'स्वराः विंशतिरेकः'** अर्थात् स्वर इक्कीस हैं। **'स्पर्शानां पञ्चविंशतिः'** अर्थात् स्पर्श वर्ण (व्यञ्जन) पच्चीस हैं। **'यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ'**—यादि आठ कहे गये हैं। **'चत्वारश्च यमाः स्मृताः'**—यम चार कहे गये हैं।

(१) स्वर २१ हैं—

ह्रस्व–अ	ह्रस्व–इ	ह्रस्व–उ	ह्रस्व–ऋ
दीर्घ–आ	दीर्घ–ई	दीर्घ–ऊ	दीर्घ–ॠ
प्लुत–अ3	प्लुत–इ3	प्लुत–उ3	प्लुन–ऋ3
३ +	३ +	३ +	३ = १२

१२ + १ (ह्रस्व ऌ) = १३।

दीर्घ–ए	दीर्घ–ओ	दीर्घ–ऐ	दीर्घ–औ
प्लुत–ए3	प्लुत–ओ3	प्लुत–ऐ3	प्लुत–औ3
२ +	२ +	२ +	२ = ०८

१३ + ०८ = २१

(२) स्पर्श (व्यञ्जन) वर्ण २५ हैं – स्पर्श वर्ण व्यञ्जन वर्ण कहलाते हैं—"कादयो मावसानाः स्पर्शाः।"

क—ख—ग—घ—ङ
च—छ—ज—झ—ञ
ट—ठ—ड—ढ—ण } ५ × ५ = २५ वर्ण
त—थ –द—ध—न
प—फ—ब—भ—म

(३) यादि = यणोऽन्तःस्थाः + शल उष्माणः अर्थात् य र ल व + श ष स ह = ०८।

(४) यम—४ हैं। यम के सम्बन्ध में मतभेद है। औदव्रजि ने पंजिका-भाष्य में कहा है—

"अनन्त्याऽन्त्यसंयोगे मध्ये यमो पूर्वगुणः।"

"नारदीय शिक्षा" का उद्धरण भी त्रिपाठी जी ने प्रस्तुत किया है जो औदव्रजि के सदृश ही है—

"अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वो ह्यन्त्यश्च परतो यदि।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत सवर्णः पूर्ववर्णयोः॥"

भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—

"वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्येषु प्रसिद्धः।"

अर्थात् जहाँ पहले स्पर्शों के पाँचों वर्णों में आदि चार वर्णों में से कोई एक तथा पीछे कोई पाँचवाँ वर्ण आ जाय वहाँ उन दोनों के संयोग के बीच एक पूर्ववर्ती वर्ण के गुण वाला तीसरा वर्ण बीच में उच्चरित होता है।

श्री नारायण मिश्र जी ने कहा है—

"प्रत्येक व्यञ्जन वर्ग के प्रथम चार व्यञ्जनों में से किसी एक के उत्तर यदि व्यञ्जन वर्ग का पञ्चम व्यञ्जन आवे तो पूर्ववर्ती तथा परवर्ती व्यञ्जनों के मध्य पूर्ववर्ती व्यञ्जन के सदृश एक अधिक अनुनासिक व्यञ्जन आ जाता है। इसी मध्यगत व्यञ्जन को 'यम' कहते हैं। यद्यपि इनकी संख्या २० (बीस) है फिर भी सब वर्गों के प्रथम व्यञ्जनों को एक तथा द्वितीय आदि को भी एक-एक मान्कर चार 'यम' कहे गये हैं।

उव्वट ने कहा है—कं खं गं घं इत्यादयो यमाः अर्थात् कं खं गं घं इत्यादि 'यम' हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है—

"स्पर्शाः यमाननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु।"

अर्थात् अनुनासिक स्पर्श अपने यमों को प्राप्त होते हैं यदि बाद में अनुनासिक स्पर्श हो। इसे उव्वट ने कहा—

"अनुनासिकाः स्पर्शाः स्वान्यमान् आपद्यन्ते अनुनासिकेषु स्पर्शेषु परेषु"

अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण अपने-अपने 'यम' हो जाते हैं, यदि बाद में वर्गों के पञ्चम वर्ण हों। अर्थात् अनुनासिक स्पर्श वर्ण के बाद में अनुनासिक स्पर्श हो तो उन दोनों के मध्य में अनुनासिक स्पर्श से अतिरिक्त एक नासिक्य वर्ण का आगम हो जाता है जिसे 'यम' कहते हैं; जैसे—'पलिक्नीः' में यम ककार के सदृश है, चख्नथुः में यम खकार के सदृश है।

५. अनुस्वार—। है।

६. विसर्ग—१ है।
७. जिह्वामूलीय और उपध्मानीय—२ हैं।
  ≍क ≍फ ये दोनों पराश्रित हैं।
८. दुःस्पृष्ट—१ है।
९. प्लुत ऌकार—१ है।

इस तरह २१ + २५ + ८ + ४ + १ + १ + २ + १ + १ = ६४

जहाँ प्लुत ऌकार की गिनती नहीं होती है वहाँ वर्णों की कुल संख्या ६३ (त्रिषष्टिः) सिद्ध है।

स्वामी दयानन्द ने पाणिनि शिक्षा के चार यमों के रूप में ७ (ह्रस्व ग्वुं), (दीर्घ ग्वुं), ˘ (अनुनासिक चिह्न) और ळ को माना है, लेकिन इसे सर्वथा मान्यता नहीं मिल पायी क्योंकि 'ळ' में अनुनासिकता का सर्वथा अभाव है।

दुःस्पृष्ट क्या है ? इसके उत्तर में गुरुप्रसाद जी ने—'ळकार' को प्रस्तुत किया है। इसे दुःस्पृष्ट इसलिए कहा गया है कि इसके उच्चारण में कठोरतापूर्वक जिह्वा और तालु का संघर्ष होता है। कहीं-कहीं 'ळ' को द्विःस्पृष्ट भी कहा गया है क्योंकि 'ळ' के उच्चारण में जिह्वा के अग्र तथा अन्त में दो बार स्पर्श का अनुभव होता है। ऋक्प्रातिशाख्य में बताया गया है कि दो स्वरों से बीच आये डकार का उच्चारण ळकार और ढकार का उच्चारण ळ्हकार होता है।

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य
संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य
ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः॥

यथा—इळा साळ्हा।

वर्णों का उद्भव

जो वर्ण संख्या में ६३ या ६४ हैं उनकी उत्पत्ति कैसे हुई ? यह प्रश्न बड़ा ही गम्भीर है क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही गम्भीर स्थानों से गम्भीरता-

पूर्वक हुई है । भगवान् पाणिनि ने संकेत किया कि आत्मा (चेतन तत्त्व) का बुद्धि (ज्ञान तत्त्व) के साथ सम्पर्क होता है और वह अपने अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है, मन कायाग्नि अर्थात् शारीरिक शक्ति को प्रेरित करता है, जिससे वायु में प्रेरणा उत्पन्न होती है अर्थात् वही कायाग्नि (जठराग्नि) मारुत अर्थात् प्राणवायु को प्रेरित करता है ।

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥"

कायाग्नि से प्रेरित मारुत यानि प्राणवायु फेफड़ों में गतिशील होकर उसी मन्द्र स्वर को उत्पन्न करता है, जो प्रातःसवन कर्म के साधन रूपी मन्त्रों के उपयोगी तथा गायत्री नामक छन्द से युक्त है;

"मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥"

वही प्राणवायु जब उरःप्रदेश में संचरण करता हुआ ऊपर उठता है तब कण्ठ-प्रदेश में पहुँचकर मध्यम ध्वनि पैदा करता है, जो मन्द्र से कुछ ऊँची होती है तथा तार स्वर से कुछ नीची । इसी ध्वनि से त्रिष्टुभ् छन्द के तथा माध्यन्दिन सवन (सोमयाग) के सभी मन्त्र पढ़े जाते हैं । तत्पश्चात् वह प्राणवायु कण्ठ-प्रदेश से ऊपर उठता हुआ शिरोभाग में भ्रमण करता हुआ तार स्वर उत्पन्न करता है । इसी स्वर से सन्ध्याकालीन सोमयाग के सभी मन्त्र जगती छन्द में पढ़े जाते हैं । अब चूंकि यह प्राणवायु शिरः प्रदेश से ऊपर जा नहीं सकता है क्योंकि ऊपर जाने के लिए कोई मार्ग (रन्ध्र) रहा ही नहीं । इसीलिए यह मूर्धा से टकराकर लौटकर मुखविवर से बाहर आता है । मुखविवर में ही विभिन्न प्रक्रियाओं के योग से यह प्राणवायु वर्णों के रूप में परिणत होता है ।

"कण्ठे माध्यन्दिनयुगं माध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा मतः ॥

वर्णों की उत्पत्ति की प्रक्रियाएँ वक्ता के भीतर इतनी क्षिप्रतर गति से होती हैं कि वक्ता को पता ही नहीं चलता तब भला श्रोता को इसका पता क्या चलेगा ? जिस प्रकार शतदल को सूई बेधती है और दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है कि सारे दल एक साथ ही विंध गये, पृथग्रूपेण दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार न तो वक्ता को और न श्रोता को ही वर्णों के उत्पन्न होने की एक-एक प्रक्रिया का पता चलता है बल्कि प्रतीत तो ऐसा होता है कि वर्ण एकबारगी ही उच्चरित हो गये। जबकि वर्णों के उच्चारण में "उत्पलपत्रशतभेदन्याय" से पौर्वापर्य तो रहता ही है। उत्पत्ति की सारी प्रक्रियाओं से बुद्धि क्रमशः विकसित होती हुई वाणी में परिणत होती है, जैसा कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

—"अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम् ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥ १/११३ ॥

डॉ० रामदेव त्रिपाठी की मान्यता है कि "परा वाणी मूलचक्र में, पश्यन्ती नाभि में तथा मध्यमा हृदय में और वैखरी कण्ठदेश में रहती है। यहाँ मूलचक्र से हृदयप्रदेश तक के स्थान की चर्चा नहीं है, पर इनमें होने वाले आत्मा, बुद्धि और मन के व्यापार का वर्णन कर इन्हीं का संकेत किया है। तत्पश्चात् मध्यमा से बैखरी वाणी की अभिव्यक्ति का यहाँ विशदतर वर्णन है वायु उरस् से कण्ठ, कण्ठ से शिरस् और शिरस् से मुखविवर में आती है यहाँ आकर वह वायु वर्णाकार में परिणत हो जाती है इस प्रकार, वर्णात्मक ध्वनि की अभिव्यक्ति में सहायक मूलचक्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिरस् तथा मुखविवर इतने स्थान हैं, इनमें वाणी क्रमशः सूक्ष्म से स्थूलतर होती जाती है"।[1]

---

१ "भाषा विज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि"—पृ० ७७.

वर्णों का विभाग

पाणिनि के अनुसार वर्णों की संख्या ६३ या ६४ है। उन वर्णों को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—

—"वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा मतः।"

इन पाँच विभागों के लिए भगवान् पाणिनि ने कहा है—
—स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।" अर्थात् (१) स्वर (२) काल (३) स्थान (४) प्रयत्न तथा (५) अनुप्रदान।

१. स्वर—स्वर तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।"

उदात्त उच्च स्वर को कहते हैं—उच्चैरुदात्तः।

अनुदात्त निम्न स्वर को कहते हैं—नीचैरनुदात्तः तथा सम स्वर को स्वरित कहते हैं समाहारः स्वरितः।

इसके अतिरिक्त एक सांगीतिक स्वर हैं जो सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।

ये सप्त स्वर उत्तरोत्तर तारतर हैं। भगवान् पाणिनि ने कहा है कि उदात्त से निषाद और गान्धार विकसित हुए, अनुदात्त से ऋषभ और धैवत तथा स्वरित से षड्ज, मध्यम और पञ्चम विकसित माने जाते हैं—

—"उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

२. काल—काल की दृष्टि से स्वर तीन प्रकार के हैं—

ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत।

—"ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमादचि।"

एकमात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ तथा त्रिमात्रिक प्लुत स्वर हैं—

—एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम् ॥

३. स्थान—वर्णों के ८ स्थान होते हैं, जिन स्थानों से वर्ण उच्चारित होते हैं; जैसे—(१) उरस् (२) कण्ठ (३) शिरस् (मूर्धा), (४) जिह्वामूल (५) दन्त (६) नासिका (७) ओष्ठ तथा (८) तालु ।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

हकार परिस्थिति विशेष में उरस्य अथवा कण्ठ्य होता है; जैसे—पञ्चम वर्णों अथवा अन्तःस्थ वर्णों के साथ संयुक्त रहने पर यह उरस्य होता है; जैसे—अपराह्ण, बाह्य, ह्लादिनी, आह्लाद आदि उदाहरणों में यह उरस्य है ।

लेकिन हरि, हर आदि स्थितियों में हकार कण्ठ्य है । क्योंकि भगवान् पाणिनि ने तो—

"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" के अनुसार अकार, कवर्ग, हकार, विसर्ग को कण्ठ्य कहा है;

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् ।
उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥"

कण्ठस्थान के बाद भगवान् पाणिनि ने तालु-स्थान से उच्चरित वर्णों की ओर संकेत किया है, जो तालव्य कहलाता है—

"कण्ठ्यावहाविचुयशः तालव्याः" अर्थात् इचुयशः अर्थात् इ, चवर्ग, य तथा शकार तालु से उच्चारित होता है—'इचुयशानां तालु ।' इसी तरह "ओष्ठजावुपू" अर्थात् ओष्ठजौ-उपू अर्थात् उकार तथा पवर्ग का उच्चारण-स्थान ओष्ठ है—"उपूपध्मानीयामोष्ठौ ।"

ओष्ठ के बाद मूर्धन् (मूर्धा) से उच्चारित होने वाले वर्ण हैं—ऋ, टवर्ग, र तथा ष—"स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषाः ।" अर्थात् "ऋटुरषाणां मूर्धा ।" तत्पश्चात्

"दन्ताः लृतुलसानां स्मृताः।" कहा गया है—ऌ, तवर्ग, ल तथा सकार दन्त से उच्चारित होने के कारण 'दन्त्य' कहलाते हैं—"लृतुलसानां दन्ताः।"

भगवान् पाणिनि की मान्यता है कि कवर्ग का उच्चारण-स्थान कण्ठ है, लेकिन जिह्वामूल के कण्ठसमीपी होने के कारण कवर्ग का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल भी है। कौमुदीकार ≍क ≍ख ≍ग को ही जिह्वामूलीय मानते हैं। वकार का उच्चारण स्थान दन्त और ओष्ठ दोनों हैं। ए-ऐ का उच्चारण-स्थान कण्ठ-तालु तथा ओ-औ का उच्चारण स्थान कण्ठ-ओष्ठ दोनों माना गया है—

"जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ॥"

अनुस्वार तथा यम वर्णों का उच्चारण स्थान नासिका है—

"अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमुच्यते।"

लेकिन अयोगवाह अपने आश्रय के स्थान वाले होते हैं—

"अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।"

पाणिनि ने प्रयत्न की दृष्टि से भी बाह्य प्रयत्न तथा आभ्यन्तर प्रयत्न पर विशद रूप से स्पष्ट प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, इनका 'यम', रङ्ग, कम्प भी कम अद्भुत नहीं, जिनकी व्याख्या यथास्थान हुई है।

पाणिनि मुख्य रूप से ध्वनिशास्त्री हैं, इसीलिए उन्होंने वर्णों के सम्यक् उच्चारण पर बल दिया है। क्योंकि "सब" के स्थान में शव, शूर/सूर/सुर/सूर, दिन/दीन, कूल़/कुल में स्वर, वर्ण-भेद से अर्थभेद हो जाता है, इसीलिए हमें स्व/श्व के भेद को स्पष्ट स्वर तथा वर्ण के उच्चारण से दिखाना चाहिये अन्यथा वही वर्ण-दोष, स्वर-दोष वज्र होकर हमारा नाश कर देता है। इसीलिए हमें वर्णों का उच्चारण ऐसे करना चाहिये कि हम दोषमुक्त रह सकें। हमें दूषित-प्रयोग से होने वाली हानि का सामना न करना पड़े, इसके लिए भी

भगवान् पाणिनि ने इस शिक्षा में विविधोपाय सुझाये हैं। वर्णों का उच्चारण कैसे करें, इसपर दृष्टान्त द्वारा बतलाया है कि जिस प्रकार बाघिन पुत्रों को गिरने और छेद के भय से डरी हुई दाढ़ों से ले जाती है और पीड़ित नहीं करती, उसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करना चाहिये—

"व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥"

वर्णों का उच्चारण अव्यक्त और पीडित नहीं करना चाहिये। वर्णों का सम्यक् उच्चारयिता ब्रह्मलोक में पूजित होता है—

"एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः नाव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते॥"

गुनगुनाते हुए पढ़ने वाला, क्षिप्रतर गति से पढ़ने वाला, सिर हिला-हिलाकर पढ़ने वाला, ठीक जैसा पुस्तक में लिखा हुआ है, वैसा ही बिना उपयुक्त आरोह-अवरोह के पढ़ने वाला, बिना अर्थ समझे ही पढ़ने वाला तथा फँसे गले से पढ़ने वाला—ऐसे पाठक अधम माने जाते हैं;

"गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथालिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥"

पाठक के पाठ में मधुरता, सुस्पष्टता, पदच्छेदता, सुस्वरता, धीरजता ε. लयसमर्थता आवश्यक है;

"माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठके गुणाः॥"

भगवान् पाणिनि ने तो उच्चारणकर्ता के लिए निम्नलिखित दोषों को परिहार्य माना है।

सन्दिग्धता, भययुक्तता, उच्चध्वनियुक्तता, अस्पष्टता, अनुनासिकता, कर्कशता,

मूर्धायुक्तता, [illegible], [illegible], [illegible], शीघ्रता, निरस्तता,

विलम्बितता, हकलाहट, प्रगीत, पीडित, पदाक्षर को ग्रस्त करके, अनुत्साहित होकर तथा नाक से वर्णोच्चारण का निषेध किया गया है ।[१]

भगवान् पाणिनि ने मनुष्य की ध्वनियों का तो विश्लेषण किया ही, पक्षियों की ध्वनियों का भी सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है—

"चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं चैव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रन्तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥"

अर्थात् चाष (नीलकण्ठ) की ध्वनि एकमात्रिक, कौवे की द्विमात्रिक, मयूर की त्रिमात्रिक तथा नकुल की अर्धमात्रिक होती है ।

संस्कृत के ध्वनि-विज्ञान से ही पश्चिम के भाषावैज्ञानिकों ने अपने यहाँ ध्वनिविज्ञान के बहुत-से पारिभाषिक शब्द तथा विभाग-निर्धारण लिये हैं । डब्ल्यू० एस० एलेन ने कहा है—

(Our phonetic Categories and termin ology owe more than is perhaps qenerally realised to the influence of Sanskrit Phoneticians.)—[२]

ब्लूमफील्ड ने "Language" में कहा है—

For no language of the past have we a record Compara-ble to Panini's record of his mother tongue nor is it likely that any language Spoken to day will be so prfectly recorded. (Page–270)

"पाणिनीय शिक्षा" की यह हिन्दी-व्याख्या एम० ए० भाषा विज्ञान के अनुसन्धित्सुओं की नैक समस्याओं का समाधान है । सचमुच पाणिनीय शिक्षा ध्वनि विज्ञान की मुकम्मल और प्राचीनतम पुस्तक है । सर्वप्रथम मैं उन लेखकों का शुक्रगुज़ार हूँ जिनकी पुस्तकों से मुझे अपार सहायता मिली है; खासकर मैं डॉ० रामदेव त्रिपाठी के प्रति नतमस्तक हूँ जिनकी पुस्तक "भाषाविज्ञान की

१. पाणिनीय शिक्षा–३४–३५.

२. Phonetics in Ancient India–P. 3.

भारतीय परम्परा और पाणिनि" से उपकृत हुआ हूँ और पदे-पदे पुस्तक रूप में डॉ० त्रिपाठी को सामने रखकर निर्देशित भी होता रहा हूँ। मैं ऋणी हूँ डॉ० ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार (आचार्य एवम् अध्यक्ष, बिहार विश्वविद्यालय) तथा डॉ० अयोध्या प्रसाद सिंह (आचार्य एवम् अध्यक्ष, राँची विश्वविद्यालय) का, जिन्होंने हमें इसके लेखन में समय-समय पर उकेरा और उत्प्रेरित किया। मैं गुरुकल्प वेदमूर्ति डॉ० वीरेन्द्रकुमार वर्मा (आचार्य एवम् अध्यक्ष, बी० एच० यू० वाराणसी) के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने अतुल स्नेह से मेरे उत्साह एवं ज्ञान को सींचा। मैं डॉ० कलानाथ झा का भी ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे 'पाणिनीय शिक्षा' के अध्यापन का सुअवसर प्रदान किया। प्रस्तुत पुस्तक को कामिल करने में मैं जिनसे विशेषरूप से प्रेरणा पाता रहा उन अग्रजदेव डॉ० रामदेव प्रसाद, पटना विश्वविद्यालय के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करता हूँ तथा प्रियतर शिष्य 'शङ्कर' भी धन्यवादार्ह है, जिसने इसके लेखन के लिए आग्रह ही नहीं किया बल्कि सुन्दर अक्षरों में इसकी पाण्डुलिपि भी तैयार की। अन्ततः प्रियसखी अनिता सागर (फारसी ऑनर्स) को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिसने इसके लेखन में मुझे सारी सुविधाएँ प्रदान की और मेरी हौसला अफ़जाई की।

एक बार मैं पुनः मोतीलाल बनारसीदास पटना के व्यवस्थापक श्री कमला बाबू के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे पुस्तकें लिखने की ओर सतत प्रयत्नशील रखा।

पता नहीं, इस 'शिक्षा' की व्याख्या का स्वाद मेरे विद्वान् पाठकों को कैसा लगा ? तथ्यों में मिठास महसूसना—यह उनका बड़प्पन है तथा ज्ञान की अल्पता मेरी कमज़ोरी। मैं अमूल्य सुझावों द्वारा कृतार्थ करने वाले विद्वान् पाठकों का सदा ही ऋणी रहूँगा।

"भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।"

'सागर'
न्यू पी० जी० प्रोफेसर कॉलोनी
पटेल नगर, भागलपुर-७

—दामोदर महतो
विजयादशमी (२०४६)
१० अक्टूबर १९८९

॥ ॐ ॥

पाणिनीय-शिक्षा

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा ।
शास्त्रानुपूर्व्यं तद्विद्याद्यथोक्तं लोकवेदयोः ॥ १ ॥

अन्वय—अथ पाणिनीयं मतं यथा शिक्षां प्रवक्ष्यामि । तत् शास्त्रानुपूर्व्यं लोकवेदयोः यथोक्तं विद्यात् ।

शब्दार्थ—अथ = इसके बाद (अब), पाणिनीयम् = पाणिनि प्रोक्त, शिक्षाम् = शिक्षा को (शिक्षा नामक वेदांग को), प्रवक्ष्यामि = प्रकृष्ट रूप से कहूँगा, यथा = जैसे, मतम् = मत को, विचार को, तत् + विद्यात् + यथा + उक्तम्, तत् = उस मत को, विद्यात् = जानें, यथोक्तम् = जैसा कहा गया है, शास्त्रानुपूर्व्यम् = (शास्त्र + आनुपूर्व्यम्), शास्त्रोपदेष्टाओं (शास्त्र प्रवर्तक गुरु परम्परा) से प्राप्त, लोकवेदयोः = लोक और वेद में (सप्तमी द्विवचन)।

हिन्दी—अब मैं पाणिनिप्रोक्त मतों के जैसा 'शिक्षा' (नामक वेदांग) को प्रकृष्ट रूप से कहूँगा । उस (पाणिनीय मत) को शास्त्रोपदेष्टृपरम्परा से प्राप्त लोक और वेद में जैसा कहा गया है, वैसा जानें ।

व्याख्या—यहाँ 'अथ' का अर्थ रुद्रप्रसाद अवस्थी ने 'आनन्तर्य' किया है । ऐसा इसलिए कि प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रारब्धि शिष्य-जिज्ञासा के शमनार्थ गुरु ने की होगी । अतएव शिष्य के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में गुरु ने पाणिनि सम्मत शिक्षा का प्रवचन किया है । ऐसे 'अथ' शब्द मङ्गलार्थ भी प्रयुक्त होता है । शाङ्करभाष्य में कहा गया है—

"अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवतीति ।"

स्मृति ग्रन्थ में भी कहा गया है—

"ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥"

अर्थात् 'ॐकार' और 'अथ' ये दोनों शब्द ब्रह्मा के कण्ठ से निकले हैं इसीलिए 'अथ' शब्द का उच्चारण या श्रवण मङ्गलसूचक समझा जाता है।

शिक्षाम्—यह शिक्षा का द्वितीयान्त रूप है। वेदाङ्ग छह हैं—

वेदानां षडङ्गानि भवन्ति। तानि च—शिक्षा, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दः, कल्पः, ज्योतिषञ्चेति। "शिक्ष्यन्ते वर्णाः शिक्ष्यते च वर्णोच्चारणविधिः यया सा शिक्षा।"

अर्थात् जिससे वर्ण सीखे जाते हैं और वर्णोच्चारण विधि सीखी जाती है उसे शिक्षा कहते हैं। सायण ने 'शिक्षा' की परिभाषा की है—

"वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।"[1]

अर्थात् जिस ग्रन्थ में वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण का प्रकार (तरीका) सिखाया जाता है उसे शिक्षा कहते हैं! तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा के छह प्रकार और कहे गये हैं—

"वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।"[2]

'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में कहा गया है कि स्वर वर्ण आदि के उच्चारण का उपदेश करने वाला शास्त्र 'शिक्षा' है—

"शिक्षा स्वरवर्णोच्चारणोपदेशकं शास्त्रम्।"[3]

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने कहा है—

'आज जिसे सामान्य ध्वनि-विज्ञान कहते हैं उसी के लिए प्राचीन समय में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग होता था।"[4] आचार्य शर्मा ने यह भी कहा है कि—'शिक्षा का सम्बन्ध सामान्यतः ध्वनि से था। ध्वनियों का स्थान, करण और

---

१. ऋग्वेदभाष्यभूमिका—पृ० ३९
२. तैत्तिरीय उपनिषद्
३. ऋग्वेद प्रातिशाख्य—पृ० २४
४. भाषाविज्ञान की भूमिका—पृ० १०२

प्रयत्न के आधार पर विश्लेषण और वर्गीकरण शिक्षा के द्वारा होता था। इसीलिए अध्ययन का प्रारम्भ शिक्षा से ही होता था। पाणिनि शिक्षा में शुद्ध उच्चारण की महत्ता निरूपित की गयी है—

"सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।"[1]

प्रस्तुत श्लोक के आधार पर कहा जा सकता है कि पाणिनीय शिक्षा पाणिनीतर आचार्य द्वारा प्रणीत है लेकिन ग्रन्थ का नाम 'पाणिनीय शिक्षा' से तो स्पष्ट है कि यह शिक्षा ग्रन्थ "पाणिनिना प्रोक्ता शिक्षा" इस अर्थ में 'तेन प्रोक्तम्'[2] से प्रोक्तार्थ में 'छ' प्रत्यय होकर 'पाणिनीय' बना। यहाँ 'छ' का 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्'[3] से 'ईय' आदेश हुआ था। इस तरह 'पाणिनीयं मतम्' का अर्थ हुआ—'पाणिनि द्वारा कहे हुए विचार।'

"पाणिनीयं मतं यथा" में 'यथा' का अर्थ 'अनतिक्रम्य' है। इसलिए 'यथोक्तम्' का अर्थ किया जाता है—

"उक्तम् अनतिक्रम्य वर्तमानम्।"

चूंकि पाणिनीय मत वेद-लोक सम्मत शास्त्रप्रवर्तक गुरुपरम्परागत है; इसीलिए इसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। पाणिनीय मत सर्वशास्त्रोपकारक है, तभी तो कहा गया—

"काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्" इति ॥ १ ॥

प्रसिद्धमपि शब्दार्थमविज्ञातमबुद्धिभिः।
पुनर्व्यक्तीकरिष्यामि वाच उच्चारणे विधिम् ॥ २ ॥

अन्वय—शब्दार्थम् प्रसिद्धमपि अबुद्धिभिः अविज्ञातम्। (अतः) वाच उच्चारणे विधिम् पुनः व्यक्तीकरिष्यामि।

शब्दार्थ—अबुद्धिभिः = न बुद्धिभिः अर्थात् बुद्धिहीनों के द्वारा, शब्दार्थम् = शब्दों का उत्पत्ति स्थान, प्रसिद्धम् अपि = प्रसिद्ध होता हुआ भी, अविज्ञातम् =

---

१. वहीं०—पृ० ३०२
२. अष्टाध्यायी—७।१।२
३. अष्टाध्यायी—४।३।१०१

अज्ञात है, वाचः = वर्णों की, उच्चारणे विधिम् = उच्चारण विधि को, पुनः = फिर से, व्यक्तीकरिष्यामि = व्यक्त करूँगा ।

हिन्दी—शब्दों का उच्चारण-स्थान (उत्पत्तिस्थान) प्रसिद्ध होता हुआ भी बुद्धिहीनों के लिए अज्ञात है। इसलिए वर्णों की उच्चारण-विधि को फिर से व्यक्त करूँगा।

व्याख्या—पं० अवस्थी ने 'शब्दार्थम्' का अर्थ किया है—'शब्देभ्यः इदं शब्दार्थम्'—शब्दजनकस्थानादिप्रसिद्धम्, प्रेक्षावताम् इति, अर्थात् शब्दों के उत्पत्ति-स्थान को, अबुद्धिभिः—मन्द बुद्धि वालों के द्वारा, यहाँ 'नञ्' का अर्थ 'अल्प' है। अविज्ञातम्—न विज्ञातम् अर्थात् अज्ञात, नञ्-वि पूर्वक क्र्यादिगणीय 'ज्ञा' अवबोधने धातु से भूतार्थक क्त प्रत्यय। चूंकि जो मन्दबुद्धि है उसके लिए शिक्षा-प्रणयन व्यर्थ है लेकिन 'वाचः उच्चारणे विधिम्'—वर्णों की उच्चारण विधि को, उपायभूत स्थान आदि को, पुनः व्यक्तीकरिष्यामि—स्पष्टतया उन उच्चारण स्थानों को बताऊँगा ॥ २ ॥

त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥३॥

अन्वय—प्राकृते संस्कृते च शम्भुमते त्रिषष्टिः चतुःषष्टिः वा वर्णाः मताः, स्वयं स्वयम्भुवा अपि प्रोक्ताः।

शब्दार्थ—त्रिषष्टिः = त्रि + षष्टिः (तीन + साठ = तिरसठ), चतुःषष्टिः = चतुः + षष्टिः (चार + साठ = चौंसठ), वा = विकल्प से, विभाषया, वर्णाः = वर्ण, शम्भुमते = शम्भु अर्थात् शिवजी के मत में, मताः = इष्ट हैं, कहे गये हैं। प्राकृते = प्राकृत में, (प्रकृति की अनुकूल भाषा में), मातृभाषाभूतसंस्कृते—संस्कृत में, च = और, अपि = भी, स्वयम् = स्वयम्, प्रोक्ताः = प्र + उक्ताः = विशेष रूप से कहे गये हैं, स्वयम्भुवा = स्वयम्भू अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा।

हिन्दी—प्राकृत और संस्कृत भाषा में शम्भु के मत में तिरसठ (त्रिषष्टिः) या चौंसठ (चतुःषष्टिः) वर्ण कहे गये हैं (अर्थात् शिवजी के मत में तिरसठ या चौंसठ वर्ण इष्ट हैं), स्वयं ब्रह्मा के द्वारा भी यही कहा गया है।

व्याख्या—व्याकरण शास्त्र के प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा माने जाते हैं, जिन्होंने बृहस्पति को शब्दोपदेश किया था।[१] व्याकरण शास्त्र में दो सम्प्रदाय—ऐन्द्र तथा माहेश्वर प्रसिद्ध हैं। कातन्त्र व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का और पाणिनीय व्याकरण शैव (माहेश्वर) सम्प्रदाय का माना जाता है।[२] इसी शैव सम्प्रदाय में मान्यता प्राप्त ६३ या ६४ वर्ण हैं, जिसे ब्रह्मा ने भी स्वीकार किया है। आचार्य मीमांसक प्राकृत तथा संस्कृत दोनों को अलग-अलग भाषा मानते हैं और संस्कृत को मूल तथा प्राकृत को उससे परवर्ती विकृत भाषा स्वीकारते हैं। हेमचन्द्र ने भी स्वीकार किया है—प्रकृतिः संस्कृतम्; तत्र भवं, तत आगत वा प्राकृतम्।[3] दूसरा मत है कि प्राकृत का ही संस्कार कर संस्कृत का निर्माण हुआ। इसकी पुष्टि स्वयं संस्कृत शब्द से होती है। जिसका संस्कार हुआ हो, वह संस्कृत। इस मत के समर्थक कहते हैं—"प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्" अर्थात् जो स्वभाव-सिद्ध हो, वह प्राकृत है।[४]

कुछ लोग कहते हैं कि दोनों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप में विकास हुआ। संस्कृत के समानान्तर जो जनभाषाएँ थीं, उन्हीं का विकसित रूप प्राकृतें हैं।[५]

पं० अवस्थी ने संस्कृत को ही मातृभाषा स्वीकार किया है, जो पुराकाल में व्यापक रूप से फैली थी। प्राकृत आदि भाषाएँ संस्कृत से ही उत्पन्न हैं, ऐसा स्वीकार किया है[६] ॥ ३ ॥

स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥ ४ ॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ⌣क ⌣पौ चापि पराश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च ॥ ५ ॥

---

१. व्याकरण शास्त्र का इतिहास–पृ० २७।
२. वही–पृ० २९।
३. वही–पृ० १३।
४. भाषा विज्ञान की भूमिका–पृ० १२८।
५. वही–पृ० १२८।
६. पाणिनीय शिक्षा–पृ० ३।

अन्वय—एकविंशतिः स्वराः पञ्चविंशतिः स्पर्शानां यादयः ह च ह्यष्टौ स्मृताः, चत्वारः च यमाः स्मृताः ॥

अनुस्वारः, विसर्गश्च ≍क ≍पौ पराश्रितौ, दुःस्पृष्टः च इति ऌकारः प्लुतः च विज्ञेयः।

शब्दार्थ—विंशतिरेकः = विंशतिः + एकः = २१ अर्थात् कुल वर्णों में इक्कीस स्वर हैं, स्पर्शानां = स्पर्शों की (व्यञ्जन वर्णों की), पञ्चविंशतिः = ५ + २० = २५ (पच्चीस), यादयः च स्मृताः हि अष्टौ = य आदि वर्ण आठ हैं, चत्वारः च यमाः स्मृताः = और यम चार कहे गये हैं। अनुस्वारः = अनुस्वार (ं १), विसर्गः = विसर्ग (: १), ≍क ≍प दो पराश्रित अर्थात् ककार-खकाराश्रित जिह्वामूलीय तथा पकार-फकाराश्रित उपध्मानीय, दुःस्पृष्टः = च इति = दुःस्पृष्टः, विज्ञेयः = जानना चाहिये और ऌकारः प्लुत एव च = अर्थात् प्लुत ऌकार (० १)।

हिन्दी—इक्कीस स्वर, पच्चीस व्यञ्जन, यादि आठ और यम चार जानने चाहिये। अनुस्वार (एक), विसर्ग (एक), ≍क, ≍प दो (जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) पराश्रित, दुःस्पृष्ट (एक) और प्लुत ऌकार (एक) जानना चाहिये।

व्याख्या—"त्रिषष्टिः चतुःषष्टिः वा वर्णाः" अर्थात् तिरसठ या चौंसठ वर्ण जो कहे हैं वे तिरसठ या चौंसठ वर्ण कौन-कौन से हैं, इसकी सूचना प्रस्तुत श्लोक में दी गयी है—इस तरह गणितीय पद्धति से कुल संख्या—

२१ + २५ + ८ + ४ + १ + १ + २ + २ = ६४ है। इनमें से प्लुत ऌकार को छोड़ देने पर ६३ वर्ण कहे गये हैं।

विंशतिरेकः—२१ स्वर कौन-कौन से हैं—

ह्रस्व—अ	ह्रस्व—इ	ह्रस्व—उ	ह्रस्व—ऋ
दीर्घ—आ	दीर्घ—ई	दीर्घ—ऊ	दीर्घ—ॠ
प्लुत—अ३	प्लुत—इ३	प्लुत—उ३	प्लुत—ॠ३
३ +	३ +	३ +	३ +

ह्रस्व ऌ—०१ = १२ + ०१ = १३

दीर्घ—ए	दीर्घ—ओ	दीर्घ—ऐ	दीर्घ—औ
प्लुत—ए३	प्लुत—ओ३	प्लुत—ऐ३	प्लुत—औ३
२	+ २	+ २	+ २

= ०८

इस तरह कुल १३ + ०८ = २१ स्वर हैं।

पाणिनि ने अच् को स्वर कहा है—'अचः स्वराः' तथा ऋग्वेद प्रातिशाख्य में—'अकारर्कारावि उ ए ओ ऐ औ—' अर्थात् अ, ऋ, इ, उ, ए, ओ, ऐ, औ—ये स्वर कहलाते हैं। स्पर्श वर्ण व्यञ्जन वर्ण कहलाते हैं—

"कादयो मावसानाः स्पर्शाः।"

क—ख—ग—घ—ङ
च—छ—ज—झ—ञ
ट—ठ—ड—ढ—ण } ५×५=२५ वर्ण
त—थ—द—ध—न
प—फ—ब—भ—म

यादयः च स्मृता हि अष्टौ—यादि आठ कहे गये हैं—

यणोऽन्तःस्थाः + शल उष्माणः

य, र, ल, व, श, ष, स, ह = ०८ यादि हैं। और यम—४ कहे गये हैं। नारायण मिश्र ने कहा है—प्रत्येक व्यञ्जन-वर्ग के प्रथम चार व्यञ्जनों में से किसी एक के उत्तर यदि व्यञ्जन वर्ग का पञ्चम व्यञ्जन आवे तो पूर्ववर्ती तथा परवर्ती व्यञ्जनों के मध्य पूर्ववर्ती व्यञ्जन के सदृश एक अधिक अनुनासिक व्यञ्जन आ जाता है। इसी मध्यगत व्यञ्जन को 'यम' कहते हैं। यद्यपि इनकी संख्या २० है तथापि सब वर्गों के प्रथम व्यञ्जनों को एक तथा द्वितीयादि को भी एक-एक मान कर चार 'यम' कहे गये हैं।

पं० अवस्थी ने कहा है—

"चत्वारो यमाः वर्णेष्वाद्यानां
चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये पूर्वसदृशा वर्णाः॥

उव्वट ने कहा है—कं खं गं घं इत्यादयो यमाः। अर्थात् कं खं गं घं इत्यादि 'यम' हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है—

"स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु ॥" ६।२९

अर्थात् अननुनासिक 'स्पर्श' अपने यमों को प्राप्त हो जाते हैं, यदि बाद में अनुनासिक 'स्पर्श' हो। इसी बात को उव्वट कहते हैं—

"अनुनासिकाः स्पर्शाः स्वान्यमान् आपद्यन्ते अनुनासिकेषु स्पर्शेषु परेषु"

अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण अपने-अपने 'यम' हो जाते हैं, यदि बाद में वर्गों के पञ्चम वर्ण हों।

अर्थात् अननुनासिक स्पर्श वर्ण के बाद में अनुनासिक स्पर्श हो तो उन दोनों के मध्य में अनुनासिक स्पर्श से अतिरिक्त एक नासिक्य वर्ण का आगम हो जाता है जिसे 'यम' कहते हैं।

जैसे—'पलिक्नीः' में यम ककार के सदृश है; 'चख्नथुः' में यम खकार के सदृश है, 'जग्मतुः' में यम गकार के सदृश है, 'जघ्नथुः' में यम घकार के सदृश है। छठे पटल में कहा गया है कि—"यमः प्रकृत्यैव सदृक्" अर्थात् यम वर्ण अपने प्रकृतिभूत स्पर्श के सदृश होता है। यह स्पष्ट है कि प्रकृतिभूत अननुनासिक स्पर्शों के बीस होने के कारण 'यम' भी बीस होते हैं। उव्वट ने कहा है—

"एवं विंशतिः यमाः बह्वृचानां भवन्ति, स्वरूपैश्चत्वार एव।"[1]

अर्थात् ऋग्वेदियों के बीस यम होते हैं, स्वरूप से तो यम चार ही हैं।

(i) सभी वर्गों के प्रथम स्पर्शों को एक इकाई मानकर

(ii) द्वितीय स्पर्शों को दूसरी इकाई मानकर

(iii) तृतीय स्पर्शों को तीसरी इकाई मानकर

(iv) चतुर्थ स्पर्शों को चौथी इकाई मानकर

अनुस्वार—स्वरमनुप्रयुज्यते इति अनुस्वारः, यथा—अं। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

---

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्य पृ० [illegible]

अर्थात् स्वर 'अ' के बाद '·' चिह्न अनुस्वार कहलाता है जो हमेशा स्वर के अनन्तर होता है।

विसर्ग—विसृज्यते वाक्यम् अनेन इति विसर्गः।

अर्थात् जिसके द्वारा वाक्य की विशेष रूप से सर्जना की जाती है उसे विसर्ग कहते हैं अथवा जो श, ष, स आदि आदेश रूपों से विविधता को सर्जना करता है उसे विसर्ग कहते हैं; जैसे—अः। यहाँ स्वर 'अ' के बाद बगल में स्थित बिन्दु द्वय (:) को विसर्ग कहते हैं।

जिह्वामूलीय—ᳵक ᳵख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वा-मूलीयः।

अर्थात् ककार और खकार से पूर्व अर्धविसर्गसदृश ध्वनि जिह्वामूलीय कहलाती है।

उपध्मानीय—ᳶप ᳶफ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः

अर्थात् पकार और फकार से पूर्व अर्धविसर्गसदृश ध्वनि उपध्मानीय कहलाती है। अर्थात् जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते हैं।[1]

दुःस्पृष्ट—दो स्वरों के बीच आये डकार का उच्चारण ळकार और ढकार का ळ्हकार होता है। इसे ही ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है—

> द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
> ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः॥ १।५२

यथा—इळा, साळ्हा।

> "अग्निमीळे पुरोहितम्" (अग्निसूक्त १–१–१)
> मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा" (ऋ. १–५६–२३)

उपर्युक्त ळकार और ळ्हकार ही दुःस्पृष्ट कहलाते हैं॥ ४-५॥

---

१. लघुसिद्धान्त कौमुदी—पृ० १०.

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—आत्मा बुद्धया अर्थान् समेत्य विवक्षया मनः युङ्क्ते । मनः कायाग्निम् आहन्ति स (कायाग्निः) मारुतम् प्रेरयति ।

शब्दार्थ—आत्मा = अन्तःकरण, बुद्धया (बुद्धि शब्द का तृ० ए० व०) = बुद्धि के द्वारा, समेत्य = समेट कर, अर्थान् = पदार्थों को, मनः = मन को (द्वितीयान्त), युङ्क्ते = युक्त करता है, प्रेरित करता है, विवक्षया = वक्तुम् इच्छया, उच्चारण (बोलने) की इच्छा से, मनः = मन (प्रथमान्त), कायाग्निम् = कायिक अग्नि अर्थात् जठराग्नि को, आहन्ति = आहत करता है, (आङ्पूर्वक हन् धातु से लट् लकार प्र० पु० एक व०) स = वही (जठराग्नि), मारुतम् = प्राणवायु को, प्रेरयति = प्रेरित करता है ।

हिन्दी—आत्मा बुद्धि के द्वारा पदार्थों को संकलित कर बोलने की इच्छा से (उच्चारण करने की इच्छा से) मन को प्रेरित करता है । (वही) मन कायाग्नि मारुत अर्थात् प्राणवायु को प्रेरित करता है ।

व्याख्या—आत्मा (चेतन तत्त्व) का बुद्धि (ज्ञान तत्त्व) के साथ सम्पर्क होता है और वह अपने अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है, मन कायाग्नि अर्थात् शारीरिक शक्ति को प्रेरित करता है जिससे वायु में प्रेरणा उत्पन्न होती है अर्थात् वही कायाग्नि (जठराग्नि) मारुत अर्थात् प्राणवायु को प्रेरित करता है ।

आत्मा अन्तःकरण को कहते हैं । अपने संस्कार में पड़े हुए पदार्थों को आत्मा बुद्धि के द्वारा संकलित कर बोलने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है अर्थात् वासनाजनित पदार्थों का बोध कराने के लिए आत्मा बुद्धि से मन को प्रेरित करता है । वही मन कायाग्नि को प्रेरित करता है और वही कायाग्नि (जठराग्नि) फेफड़े में विद्यमान मारुत अर्थात् प्राणवायु को प्रेरित करता है ।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने कहा है—निःश्वास से ही ध्वनि उत्पन्न होती है । फेफड़ा धौंकनी का काम करता है । ध्वनि की उत्पत्ति में फेफड़ों का प्रत्यक्ष

उपयोग तो नहीं है किन्तु वही मूल स्थान है जहाँ से बाहर निकलने वाली वायु का उपयोग ध्वनि के उत्पादन के लिए किया जाता है। फेफड़े से ऊपर श्वास नली है जो दोनों फेफड़ों से सम्बद्ध रहती है।[1]

फेफड़े में जो श्वास इकठ्ठा होकर गूँजता है वही मारुत अर्थात् प्राणवायु है और वही प्राणवायु स्वरयन्त्र होकर बाहर निकलती है। स्वरयन्त्र के बीच स्वरतन्त्री (दो मांसल झिल्लियाँ) होती हैं। स्वरतन्त्रियों के बीच के छिद्र को कण्ठद्वार या काकल कहते हैं।

जब स्वरतन्त्रियाँ अपनी सामान्य अवस्था (पृथक्, शिथिल, निस्पन्द) में रहती हैं तो कण्ठद्वार खुला रहता है जिससे वायु फेफड़ों में आती-जाती रहती है। इस अवस्था में उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ अघोष होती हैं।

जब स्वरतन्त्रियाँ परस्पर निकट आकर सट जाती हैं तब निःश्वास-वायु के निकलते समय उनमें कम्पन होता है। स्वरतन्त्रियों के सटे होने से निःश्वास-वायु धक्का देकर बाहर निकलती है, इसीलिए स्वरतन्त्रियों में कम्पन होता है। इस अवस्था में जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, वे घोष होती हैं।

जब स्वरतन्त्रियाँ मध्यवर्ती अवस्था में, अर्थात् न तो बहुत अलग और न तो बिल्कुल सटी होती हैं तब इस अवस्था में उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ फुसफुसाहट होती है ॥ ६ ॥

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥ ७ ॥

अन्वय—मारुतः तु उरसि चरन् मन्द्रं स्वरम् जनयति। तं प्रातः-सवनयोगं गायत्रं छन्दः आश्रितम्।

शब्दार्थ—मारुतः = प्राणवायु, तु = किन्तु, उरसि = हृदय में, फेफड़े में, चरन् = संचरण करता हुआ, गतिशील होकर, मन्द्रम् = सामान्य, स्वरम् = स्वर को, जनयति = उत्पन्न करता है। प्रातःसवनयोगम् = प्रातः सवन कर्म, तम् = उस

१. भा० वि० भूमिका—पृ० २०० ।

(प्रसिद्ध) को, छन्दः = छन्द से, छन्दो गायत्रमाश्रितम् = गायत्री नामक छन्द से युक्त।

हिन्दी—(कायाग्नि से प्रेरित) मारुत अर्थात् प्राणवायु उरःस्थल अर्थात् फेफड़ों में गतिशील होकर (संचरण करता हुआ) उसी मन्द्र (सामान्य, गम्भीर) स्वर (ध्वनि) को उत्पन्न करता है जो प्रातः सवन कर्म के साधना रूपी मन्त्रों के उपयोगी तथा गायत्री नामक छन्द से युक्त है।

व्याख्या—पूर्व श्लोक के अनुसार "**मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्**" अर्थात् कायाग्नि से प्रेरित प्राणवायु प्रथमतः उरःप्रदेश में अर्थात् फेफड़े में ही गूंजती हुई मन्द्र ध्वनि को अर्थात् गम्भीर ध्वनि को उत्पन्न करती है। इसी गम्भीर ध्वनि में गायत्री छन्दोबद्ध मन्त्र हैं जिनका प्रातः सवन कर्म में पाठ विहित है।

उरसि—उरस् का सप्तमी एकवचन रूप है। चरन्–भ्वादि-गणीय चर गतिभक्षणयोः धातु से शतृ प्रत्यय, छन्दो गायत्रमाश्रितम्—गायत्र्याख्यछन्दोयुक्तम् इति। प्रातः सवनयोगम्—प्रातः सवनकर्मसाधनमन्त्रोपयोगी। पं० अवस्थी ने 'मन्द्रम्' का अर्थ 'अल्पतरम्' डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने 'सामान्य' तथा नारायण मिश्र ने 'गम्भीरः' किया है। श्री मिश्र ने सुझाया है कि—

"अथ मन्द्रं तपति तस्मान्मन्द्रया वाचा प्रातःसवने शंसेत्" आदि श्रुति के अनुसार प्रातः सवन आदि कर्मों में क्रमशः मन्द्र आदि स्वरों का उपयोग सिद्ध है। इसीलिए इन स्वरों का उच्चारण क्रम से उरः, कण्ठ तथा शिर इन तीन स्थानों में होता है और तीनों स्थानों को प्रातःसवन, माध्यन्दिन तथा सायं-सवन कहा जाता है—

"उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।
सवनान्याहुरेतानि .... ॥ (नारदीय शिक्षा)।

गायत्रम्—गायत्री छन्द में रचा गया मन्त्र 'गायत्र' कहलाता है जिसका अर्थ होता है—गीत, सूक्त। गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं जिनके देवता

'अग्नि' और वर्ण 'श्वेत' हैं। गायत्री शब्द से 'तस्येदम्' (अष्टा० ४-३-१२०) सूत्र से अण् प्रत्यय होकर 'गायत्रम्' बनता है।

'सवन' का अर्थ होता है—यज्ञ, स्नान। 'प्रातःसवनम्' का अर्थ वामन शिवराम आप्टे ने 'सोमयाग द्वारा प्रातःकालीन तर्पण' किया है। मोनियर विलियम्स ने भी इसका अर्थ—'Libatin of Soma' कहा है।

मारुतः—मरुति भवः इस अर्थ में मरुत् शब्द से 'अण्' प्रत्यय होकर 'मारुतः' बना जिसका अर्थ 'वायु' है।

इस तरह उरः स्थानीय मन्द्रस्वर—गायत्र

कण्ठ स्थानीय मध्यम स्वर—त्रैष्टुभ्

शिरस् स्थानीय तार स्वर—जागत कहलाये, जो नारदीय शिक्षा से भी स्पष्ट है ॥ ७ ॥

कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥ ८ ॥

अन्वय—कण्ठे त्रैष्टुभानुगं माध्यन्दिनयुगं मध्यमं, शीर्षण्यं जागतानुगं तार्तीयसवनं तारम् ।

शब्दार्थ—कण्ठे = कण्ठ प्रदेश में, माध्यन्दिनयुगम् = माध्यन्दिन सवन कर्म साधनमन्त्रोपयोगी, मध्यमम् = मध्यम (न मन्द्र और न तार), त्रैष्टुभानुगम् = त्रिष्टुभ छन्द में रचा गया मन्त्र, तारम् = उच्चैस्तर स्वर, तार्तीयसवनम् = तृतीय सवन अर्थात् सन्ध्या सवन कर्म साधन मन्त्रपयोगी, शीर्षण्यम्—शिरः प्रदेश में संचरित वायु, जागतानुगम् = जगती छन्द में रचा गया मन्त्र ।

यहाँ पूर्व श्लोक सूत्र से 'मारुतः' 'जनयति स्वरम्' आदि पदों की अनुवृत्ति करने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी—प्राणवायु (मारुत) कण्ठ प्रदेश में संचरण करता हुआ त्रिष्टुभ छन्दों में रचित माध्यन्दिन सवन कर्म के साधनभूत मन्त्रों के उपयोगी मध्यम स्वर को उत्पन्न करता है जो शिरः प्रदेश में पहुँचकर, गतिशील होता हुआ तार

स्वर को उत्पन्न करता है जिस तार स्वर में जगती छन्द में रचित मन्त्रों का तृतीय सवन अर्थात् सन्ध्या सवन कर्म में पाठ विहित है।

व्याख्या—त्रिष्टुभ् + अञ् > अ[१] आदि अच् की वृद्धि आदि होकर 'त्रैष्टुभम्' रूप बनता है। इसी प्रकार जगती + अञ्>अ = जागतम्[२]। 'तृतीये भवः' इस अर्थ में तृतीय + अण्>अ[3], आदि अच् की वृद्धि, रपरादेश होकर तार्तीय।

शीर्षण्यम्—'शिरसि भवः' इस अर्थ में शरीर के अवयववाचक सप्तम्यन्त समर्थ शिरस्-ङि से यत्[४]>य, प्रा० सं०, सुप्-लोप, शिरस्—य, 'ये च तद्धिते'[५] सूत्र द्वारा शिरस् को 'शीर्षन्' आदेश होकर—(शीर्षन्—य) 'रषाभ्यां नो णः समानपदे[६]' से मूर्धन्यादेश —(शीर्षण्य) नपुंसक लिङ्ग में "शीर्षण्यम्"। काशिकाकार ने 'शीर्षण्यः स्वरः' कहा है। मोनियर विलियम्स ने "Being in or on the head"[७] अर्थ किया है ॥ ८ ॥

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापाद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥ ९ ॥

अन्वय—स मारुतः उदीर्णः मूर्ध्नि अभिहतः वक्त्रम् आपाद्य वर्णान् जनयते, तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।

शब्दार्थ—सः = वह, मारुतः = प्राणवायु, उदीर्णः = ऊर्ध्व प्रेरित होकर, मूर्ध्नि + मूर्धा में, अभिहतः = आघात कर, टकरा करके, वक्त्रम् = मुख विवर को, आपाद्य प्राप्त करके, वर्णान् = वर्णों को, जनयते = उत्पन्न करती है, तेषाम् = उनका (उन वर्णों का), विभागः = भेद, विभाग, पञ्चधा = पाँच प्रकार से, स्मृतः = कहा गया है।

---

१. उत्सादिभ्यो अञ् (अ० ४–१–८६),
२. वही
३. तत्र भवः (अ० ४–३–५३)
४. शरीरावयवाच्च (अ० ४–३–५५)
५. अ० ६–१–६१
६. अ० ८–४–१
७. A Sanskrit-Englih dichonry P. 1079

हिन्दी—ऊर्ध्वं प्रेरित होकर मूर्धा में आघात करके लौटता हुआ वह प्राणवायु मुख-विवर में पहुँच कर वर्णों को उत्पन्न करता है। उनका विभाग पाँच प्रकार से कहा गया है अर्थात् उनका भेद पाँच प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या—इसी तरह की बात भर्तृहरि ने भी कही है।

"स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते॥
विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते॥

अर्थात् वह (जीवात्मा) विचार रूप में परिवर्तित होता है और शारीरिक उष्मा से युक्त होकर प्राणवायु में प्रवेश करता है। उसके बाद वह ऊर्ध्वोन्मुख होता है। वह अपनी ग्रन्थियों को विभक्त करके पृथक्-पृथक् ध्वनियों के रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार प्राणवायु वर्णों को अभिव्यक्त करके उनमें ही (वर्णों में ही) लीन हो जाता है।

फेफड़े से प्राणवायु एक गूँज के रूप में ऊर्ध्वोन्मुख होता है और श्वास-नलिका से होता हुआ वह सीधे मूर्धा से जा टकराता है और प्रत्यावृत्त होकर (लौटकर) वह मुख विवर की ओर अग्रेसर होता है। वहाँ वही गूँज सँकरे मार्ग से निकलती हुई विभिन्न स्थानों को स्पर्श करती हुई विभिन्न प्रकार के वर्णों में परिवर्तित होती है और अन्ततोगत्वा वह गूँज वर्णों में ही लीन हो जाती है। ठीक इसी प्रकार की बातें बाँसुरी या हारमोनियम में भी होती हैं। बाँसुरी में जो फूँक मारते हैं तो वह फूँक एक गूँज के रूप में होती है और वही गूँज बाँसुरी या हारमोनियम के संकुचित मार्गों से निकलने पर मार्ग के अनुसार वर्णों का रूप लेती हैं। जो वर्ण इस तरह उत्पन्न होते हैं, वे मुख्यतः पाँच प्रकार के होते हैं।

तात्पर्य यह कि उच्छ्वास हमेशा निःश्वास के रूप में बाहर निकलता रहता है—यही धौंकनी प्राण है, तभी तो इसे प्राणवायु कहते हैं, लेकिन जब वाक्-यन्त्रों में हरकत होती है, मन कायाग्नि को प्रेरित करता है तथा कायाग्नि

प्राणवायु को, तब फिर ज्ञान की वर्षा, तुमुल कोलाहल या फिर मधुर गायन की झंकृति पैदा होती है। मन ने जैसी हरकत की, प्राणवायु ने वैसे ही रूप अख्तियार किये। इसीलिए उनके रूप भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

इस विषय में डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने कहा है—"मानव में चेतना तत्त्व ही है, जो भाषा को जन्म देता है। केवल चेतना बुद्धि के बिना काम नहीं कर सकती है। यही कारण है कि बुद्धि या विवेक के अभाव के कारण पशु-पक्षियों में भाषा का अभाव है। मानव में चेतना और बुद्धि का समन्वय है। इसके द्वारा विचार अभिव्यक्ति के योग्य होते हैं। इनके लिए प्रेरणा-तत्त्व मन की आवश्यकता होती है। मन प्राणवायु का सहयोग प्राप्त करके वाग्यन्त्र के नियमित संचालन के द्वारा ध्वनि को उत्पन्न करता है। इस प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति के लिए चार तत्त्वों की आवश्यकता होती है—(i) भाव या विचार, (ii) विवक्षा (विचार को प्रकट करने की इच्छा), (iii) प्राणवायु का सहयोग और (iv) वाग्यन्त्र का नियमित संचालन। मानव में ये चारों बातें प्राप्त होती हैं। चेतन-तत्त्व के द्वारा प्राप्त भावों को मन के द्वारा गति मिलती है, वायु के द्वारा निर्गमन होता है और वाग्यन्त्र के द्वारा उसको ठीक ध्वन्यात्मक रूप मिलता है[१] ॥ ९ ॥

स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः ।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत ॥ १० ॥

अन्वय—वर्णविदः स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः प्राहुः तत् निपुणं निबोधत।

शब्दार्थ—स्वरतः = स्वर की दृष्टि से, कालतः=काल की दृष्टि से, स्थानात्= स्थान की दृष्टि से, प्रयत्नानुप्रदानतः = प्रयत्न अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न की दृष्टि से (पाँच प्रकार), वर्णविदः=वर्णवेत्ताओं ने, प्राहुः=कहा है, तत् + निबोधत = उसे जानें, निपुणम् = निपुणता से, स्पष्टता से।

---

१. भा० वि० भा० शा०—पृ० १२८।

हिन्दी—वर्णवेत्ताओं ने (उन वर्णों का) स्वर, काल, स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न, बाह्य प्रयत्न की दृष्टि से (पाँच प्रकार) कहा है, उसे स्पष्टतः जानें (जानना चाहिए) ।। १० ।।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः ।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ।। ११।।

अन्वय—उदात्तः च अनुदात्तः स्वरितः च त्रयः स्वराः । ह्रस्वः दीर्घः प्लुतः इति नियमाः कालतः अचि ।

शब्दार्थ—स्वराः + त्रयः=स्वर के तीन प्रकार हैं । कालतः=काल की दृष्टि से, अचि=अज्विषये अर्थात् अच् के विषय में है ।

हिन्दी—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर तथा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन नियम काल की दृष्टि से अच् के विषय में हैं ।

व्याख्या—उदात्त स्वर के विषय में भगवान् पाणिनि ने कहा है—'**उच्चैरुदात्तः**'[1] अर्थात् ऊपर वाले भाग में उच्चार्यमाण (अच्) स्वर उदात्त संज्ञक होते हैं । अभिप्राय यह कि जिस स्वर का उच्चारण अपने निर्धारित स्थान के ऊपर वाले भाग से होता है वह 'उदात्त' कहलाता है । जैसे – 'अ' का उच्चारण कण्ठ के ऊपरी भाग से किया जायेगा तो वह उदात्त संज्ञक होगा ।

इसी प्रकार अनुदात्त के विषय में कहा है—'**नीचैरनुदात्तः**'[2] अर्थात् निर्धारित स्थान के निचले भाग से उच्चारण किया जाने वाला स्वर 'अनुदात्त' संज्ञक होगा । जैसे—अकार का उच्चारण यदि कण्ठ के निचले हिस्से होगा तो वह अनुदात्त होगा । तीसरा भेद है – स्वरित का । '**समाहारः स्वरितः**'[3] अर्थात् उदात्त और अनुदात्त के एकीकरण या मेल वाला स्वर 'स्वरित' कहलाता है । तात्पर्य यह कि जिस स्वर का उच्चारण निर्धारित स्थान के ऊपरी और निचले भागों को मिलाकर होता है; उसे 'स्वरित' कहते हैं । जैसे—

---

१. अ० १–२–२९ ।   २. अ० १–२–३० ।   ३. अ० १–२–३१

अकार का उच्चारण जब कण्ठ के ऊपरी और निचले दोनों भागों से होता है तब वह स्वरित कहलाता है।

उदात्त स्वर प्रायः अचिह्नित होता है; अनुदात्त स्वर का चिह्न किसी स्वर वर्ण के नीचे एक पड़ी रेखा है और स्वरित स्वर का किसी भी वर्ण पर खड़ी रेखा है। जैसे—

उदात्त स्वर—अ, इ आदि
अनुदात्त स्वर—अ॒ इ॒ "
स्वरित स्वर—अ॑, इ॑ आदि।

काल की दृष्टि से भी तीन भेद हैं जिसके लिए भगवान् ने कहा है—

"ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः"[1] अर्थात् उकाल वाले स्वर को ह्रस्व, ऊकाल वाले स्वर को दीर्घ तथा 'उ^{3}' काल वाले स्वर को प्लुत कहते हैं। सचमुच उ ऊ और उ^{3} क्रमशः एकमात्रिक द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक हैं। इसे यों कहा गया है—

"एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम्॥"

अर्थात् एकमात्रा-ह्रस्व, द्विमात्रा-दीर्घ और तीनमात्रा-प्लुत और व्यञ्जन को अर्धमात्रिक जानना चाहिए॥ ११॥

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥ १२॥

अन्वय—उदात्ते निषादगान्धारौ अनुदात्ते ऋषभधैवतौ। स्वरितप्रभवा हि एते षड्जमध्यमपञ्चमाः।

शब्दार्थ—उदात्ते = उदात्त स्वर में, अनुदात्ते = अनुदात्त स्वर में, ऋषभ-धैवतो, स्वरितप्रभवाः = स्वरित से उत्पन्न, षड्जमध्यमपञ्चमाः, हि एते = ये निषादगान्धारौ = ये दोनों (संगीतशास्त्र के स्वर) गाये जाते हैं।

---

१. अ० १-२-२७

हिन्दी—उदात्त में निषाद, गान्धार, अनुदात्त में ऋषभ, धैवत और स्वरित में षड्ज, मध्यम और पञ्चम हैं।

व्याख्या—निषाद—संगीत के सप्तक का अन्तिम स्वर जिसका संक्षिप्त रूप 'नि' है। आप्टे ने तो इसे हिन्दू सरगम का पहला स्वर भी माना है, हालांकि सप्तक के अन्तिम सप्तम स्वर मानने में भी विरोध नहीं है।

गान्धार—भारतीय सरगम के सात प्रधान स्वरों में तीसरा जिसे 'ग' से भी प्रकट करते हैं।

ऋषभ—सप्तक में दूसरा जिसे 'रे' से भी जानते हैं;

धैवत—सप्तक में छठा जिसे 'ध' से भी जानते हैं।

षड्ज—भारतीय संगीत के सप्तक का प्रथम और कुछ के अनुसार चतुर्थ स्वर। 'षड्ज' नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह छह अंगों से व्युत्पन्न है—

"नासाकण्ठमुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संस्पृशन्।"

"षड्जः संजायते (षड्भ्यः संजायते) यस्मात् षड्ज इति स्मृतः।"

ऐसी मान्यता है कि यह स्वर मोर के स्वर से मिलता-जुलता है।

रघुवंश में कहा गया है—

"षड्जसंवादिनीः केकाः द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः।" १/३०

मध्यम— चतुर्थ स्वर।

पञ्चम—भारतीय स्वर ग्राम (सप्तक) का पञ्चम स्वर, जो कोकिल की कूक का स्वर माना जाता है—

"कोकिलो रौति पञ्चमम्।"

शरीर के पाँच अंगों से उत्पन्न होने के कारण इसका नाम "पञ्चम" है—

"वायुः समुद्गतो नाभेरुरोहृत्कण्ठमूर्धसु।
विचरन् पञ्चमस्थानप्राप्त्या पञ्चम उच्यते।" ॥ १२ ॥

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥ १३ ॥

अन्वय—वर्णानां स्थानानि अष्टौ—उरः कण्ठः शिरः तथा जिह्वामूलं च दन्ताः च नासिका ओष्ठौ च तालु च ।

शब्दार्थ—अष्टौ = आठ, स्थानानि = उच्चारण हैं, वर्णानाम् = वर्णों के, उरः = उरः प्रदेश,

हिन्दी—वर्णों के उच्चारण के स्थान आठ हैं—उरः, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु ॥ १३ ॥

ओभावश्च विवृत्तिश्च षशसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥ १४ ॥

अन्वय—ऊष्मणः गतिः अष्टविधा—ओभावः च विवृत्तिः च श–ष–सा रेफ एव च जिह्वामूलम् उपध्मा च ।

शब्दार्थ—ऊष्मणः = ऊष्मा के (विसर्ग के), गतिः = गति, प्रकार, अष्टविधा = आठ प्रकार, ओभावः = ओ हो जाना, विवृत्तिः = जहाँ सन्धि का अभाव हो, श-ष-सा = श, ष, स हो जाना, रेफ = रेफ होना, जिह्वामूलम् = जिह्वामूल होना, उपध्मा = उपध्मानीय होना ।

हिन्दी—ऊष्मा की अर्थात् विसर्ग की आठ प्रकार की गति (स्थिति) होती है—ओभाव, विवृत्ति अर्थात् सन्धि का अभाव, (लोप हो जाना), श–ष–स हो जाना, रेफ होना, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय होना ।

व्याख्या—विसर्ग—"विसृज्यते वाक्यमनेनेति विसर्गः विविधं वा सृज्यते शत्व-षत्व-सत्वाद्यादेशरूपैरिति विसर्गः" अर्थात् जिसके द्वारा वाक्य की विशेष रूप से सर्जना की जाती है, उसे विसर्ग कहते हैं । अथवा जो श–ष–स आदि आदेश रूपों से विविधता की सर्जना करता है, उसे विसर्ग कहते हैं; जैसे—अः ।

विसर्ग का सन्धि कार्य में 'ओ' हो जाना, जैसे—शिवो वन्द्यः, शिवस् + वन्द्यः, यहाँ 'स्' का 'ससजुषो रुः' से 'रु' तथा 'हशि च' (अ० ६-१-११४) से रु > र् को 'उ' होकर—शिव-उ-वन्द्यः, 'आद्गुणः' से गुण ओकार एकादेश होकर—शिव्–ओ–वन्द्यः = शिवो वन्द्यः हुआ ।

विवृत्ति—द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते ।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ईशेति निदर्शनम् ॥

याज्ञवल्क्य शिक्षा श्लोक-९४.

इसी तरह ऋग्वेद प्रातिशाख्य में भी—

"वरान्तरं तु विवृत्तिः" अर्थात् दो स्वर वर्णों के मध्य-अवकाश को विवृत्ति कहते हैं । यथा—क ईशः । कः—ईशः, यहाँ 'किमः कः' सूत्र से किम् को 'क' आदेश क—सु>स्—ईशः, कस्—ईशः, यहाँ "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्"[१] सूत्र से सु>स् का लोप होने पर—(क ईशः) बना ।

विसर्ग का श-ष-स होना—

श् होना—हरिःशेते, 'विसर्जनीयस्य सः'[२] से विसर्ग का 'स्' होना तथा 'स्' का 'स्तोः श्चुना श्चुः'[३] से श्चुत्व होकर—हरिश्—शेते=हरिश्शेते ।

ष् होना—आविस्—कृतम्, 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य'[४] सूत्र से इकारोपध विसर्ग का षकारदेश होकर—'आविष्कृतम्' ।

ऐसे ही "निर्दुर्बहिराविश्चतुरप्रादुस्" भी निस्+कृतम्=निष्कृतम्, दुस्+कृतम्=दुष्कृतम्, बहिस्+कृतम्=बहिष्कृतम्, चतुर्+कृतम्=चतुष्कृतम् आदि ।

स् होना—कः—कः=कस्कः, यहाँ 'कस्कादिषु च'[५] सूत्र से विसर्ग का सकार होकर 'कस्कः' बना । रेफ होना—अहर्पतिः—(अहः—पतिः) यहाँ अहः के विसर्ग का रेफ हो यदि 'पति' शब्द परे रहे तो । इसके लिए कात्यायन ने वार्तिक कहा है—

"अहरादीनां पत्यादिषूपसंख्यानं कर्तव्यम् ।"[६]

ऐसे ही गीः—पतिः=गीर्पतिः ।

---

१. अ० ६-१-१३४.
२. अ० ८-३-३४.
३. अ० ८-४-४०.
४. अ० ८-३-४१.
५. अ० ८-३-४८.
६. अ० ८-२-७० के अन्तर्गत वार्तिक (काशिकावृत्ति)

जिह्वामूल + उपध्मानीय होना—

"कुप्वोᳵकᳵपौ च"[1] सूत्र से कवर्ग, पवर्ग परे रहते विसर्ग का यथासंख्य जिह्वामूलीयᳵक और उपध्मानीयᳵप ये आदेश होते हैं तथा चकार के सामर्थ्य से विसर्ग भी। जैसे—वृक्षः करोति—वृक्षᳵकरोति। वृक्षः पचति—वृक्षᳵपचति।

कपौ—उच्चारण है। वस्तुतः 'जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ आदेशौ' यहाँ पाणिनि ने विसर्ग की विविध स्थितियाँ सुझायी हैं ॥ १४ ॥

यद्योभावप्रसन्धानमुकारादिपरं पदम्।

स्वरान्तं तादृशं विद्यात् यदन्यद् व्यक्तमूष्मणः ॥ १५ ॥

अन्वय—यदि उकारादिपरं पदम् ओभावप्रसन्धानं स्वरान्तं तादृशं विद्यात् यत् अन्यत् व्यक्तम् ऊष्मणः।

शब्दार्थ—ओभावप्रसन्धानम् = ओभाव परिज्ञान, विद्यात् = जानें, ऊष्मणः = विसर्ग का, व्यक्तम् = परिस्फुट, तादृशम् = वैसे (ओकार को), स्वरान्तम् = स्वरस्थानिक जानें, उकारादि पदं = उकार हो आदि में जिसके ऐसे पद।

हिन्दी—यदि उकारादि पद परे हों तो उससे पूर्व प्राप्त ओकार को स्वरान्त जानें और दूसरी तरफ (इससे विपरीत) यदि उकारादि पद परे न हों तो उससे पूर्व प्राप्त ओकार को विसर्ग स्थानीय (विसर्ग का) जानें।

व्याख्या—उकार हो आदि में जिसके ऐसे पद को उकारादि पद कहते हैं और ऐसे पद यदि परे रहें और पूर्व में प्राप्त ओकार रहे तो उस ओकार को विशुद्ध स्वर स्थानिक (स्वरान्त) जानना चाहिए। वह किसी का विकार नहीं होगा लेकिन उकारादि भिन्न पद परे रहें और तब पूर्वपद में ओकार प्राप्त हो तो इसे स्वस्थानिक न जान कर विसर्ग का ही विकृत रूप मानना चाहिए। उदाहरण के तौर पर हम देख सकते हैं—एषोऽत्र, आदेशो भवति ॥ १५ ॥

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।

उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥ १६ ॥

---

१. अ० ८-३-३७.

अन्वय—पञ्चमैर्युक्तम् अन्तःस्थाभिः च संयुतम् हकारम् उरस्यं विजानीयात् असंयुतं तं कण्ठ्यम् आहुः ।

शब्दार्थ—पञ्चमैः युक्तम्=पञ्चम वर्णों से युक्त (वर्ग के पञ्चम वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न्,म्), अन्तःस्थाभिः संयुतम्=अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त, हकारम्=हकार को, उरस्यम्=उरः स्थानीय, विजानीयात्=जानें, कण्ठ्यम्=कण्ठ स्थानीय, आहुः=कहा गया गया है, असंयुतम्=असंयुक्त ।

हिन्दी—पञ्चम वर्णों (वर्ग के पञ्चम वर्ण) तथा अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त हकार को उरः स्थानीय जानना चाहिए । असंयुक्त (जो) हकार, उसको कण्ठ्य कहा गया है ।

व्याख्या—जब हकार स्वतन्त्र है अर्थात् असंयोगावस्था में है विशेषकर वर्ग के पञ्चम वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न्, म् तथा अन्तःस्थ वर्णों के साथ तब तो वह कण्ठस्थानीय है—

'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः ।' लेकिन पञ्चम वर्ण तथा अन्तःस्थों के साथ संयोग हो जाने पर यही 'ह' उरःस्थानीय हो जाता है; जैसे— ह्मलयति, ह्वलयति । १६ ॥

कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ॥ १७ ॥

अन्वय—कण्ठ्यौ अहौ इचुयशाः तालव्या ओष्ठजौ उपू । ऋटुरषा मूर्धन्याः स्युः लृतुलसाः दन्त्याः स्मृताः ।

शब्दार्थ—अहौ=अकार और हकार, इचुयशाः=इकार, चवर्ग, यकार तथा शकार, उपू=उकार तथा पवर्ग, ऋटुरषाः=ऋकार, टवर्ग, र तथा ष, लृतुलसाः=लृकार, तु अर्थात् तवर्ग, लकार तथा सकार, कण्ठ्यौ=कण्ठ स्थानीय (कण्ठ नामक उच्चारण स्थान से उच्चरित) तालव्या=तालु से उच्चरित, मूर्धन्य=मूर्धा से उत्पन्न, दन्त्याः=दन्त से उच्चरित, स्मृताः=स्मरण किये गये हैं—कहे गये हैं ।

हिन्दी—अकार और हकार कण्ठ्य, इ-चवर्ग, य, श तालव्य, उ-पवर्ग ओष्ठ्य, ऋ-टवर्ग, र, ष मूर्धन्य हैं तथा लृ-तवर्ग, ल, स दन्त्य कहे गये हैं।

व्याख्या—अकार, हकार का उच्चारण स्थान कण्ठ कहा गया है—"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः"। कण्ठ-स्थान से उच्चरित होने के कारण यह 'कण्ठ्य' कहलाता है। इसी प्रकार इ—चु=चवर्ग (च छ ज झ ञ), य तथा श का उच्चारण स्थान तालु है—"इचुयशानां तालु"। तालु से उच्चरित होने के कारण यह तालव्य कहलाया। ऋ, टु=टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण), र तथा ष का उच्चारण स्थान मूर्धा है—'ऋटुरषाणां मूर्धा।' मूर्धा से उच्चरित होने के कारण यह मूर्धन्य है। ऌ, तु=तवर्ग (त, थ, द, ध, न), ल तथा स का उच्चारण स्थान दन्त है—'ऌतुलसानां दन्ताः।' दन्त से उच्चरित होने के कारण 'दन्त्य' कहलाया। यहाँ 'दन्त' से अभिप्राय है वह देश जो दन्त से मिलता है। तभी तो भग्नदन्त वालों से भी दन्त्य का उच्चारण होता है॥ १७॥

जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
ए ऐ तु कण्ठतालव्या ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ॥ १८॥

अन्वय—बुधैः कुः जिह्वामूले प्रोक्तः वः दन्त्योष्ठ्यः स्मृतः। ए-ऐ तु कण्ठतालव्यौ ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ।

शब्दार्थ—जिह्वामूले=जिह्वामूल में, कु=कवर्ग, प्रोक्तः=कहा गया, दन्त्य-ओष्ठ्यः=दन्त्य और ओष्ठ्य, वः=वकार, स्मृतः=कहा गया है, बुधैः=पण्डितों के द्वारा।

हिन्दी—पण्डितों ने कु अर्थात् कवर्ग का (उच्चारण) जिह्वामूल में कहा है, वकार को दन्त्य और ओष्ठ्य कहा है। एकार तथा ऐकार को कण्ठ्य तथा तालव्य और ओकार-औकार को कण्ठ्य तथा ओष्ठ्य कहा है।

व्याख्या—कवर्ग का उच्चारण-स्थान शिक्षाकार ने जिह्वामूल माना है जबकि कौमुदीकार ने कण्ठ 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।' कौमुदीकार ने

जिह्वामूल से जिह्वामूलीय ≍क ≍ख माना है। शिक्षाकार की मान्यता है कवर्ग का उच्चारण स्थान तो कण्ठ है ही, जिह्वामूल कण्ठसमीपी होने के कारण कवर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूल भी है। अर्थात् कण्ठ और जिह्वामूल दोनों हैं। हालाँकि कौमुदीकार ने जिह्वामूल से रूढ़ि शब्द ≍क ≍ख ≍ग आदि ही माना है।

कौमुदीकार ने भी वकार का उच्चारण स्थान 'दन्तोष्ठ' माना है— "वकारस्य दन्तोष्ठम्।"

जहाँ शिक्षाकार ने ए–ऐ को कण्ठतालुजन्य माना है वहाँ कौमुदीकार ने भी इसी पर सहमति दे दी है—"एदैतोः कण्ठतालु।"

इसी तरह 'ओ—औ' कण्ठोष्ठज है—"ओदौतोः कण्ठोष्ठम्" ॥ १८ ॥

अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारैकारयोर्भवेत्।
ओकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम् ॥ १९ ॥
संवृतमात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्।

अन्वय—एकारैकारयोः कण्ठ्यस्य अर्धमात्रा भवेत्। ओकारौकारयोः (कण्ठ्यस्य) तु मात्रा, तयोः विवृतसंवृतम्। संवृतं तु मात्रिकं विवृतं तु द्विमात्रिकं ज्ञेयम्।

शब्दार्थ—एकारैकारयोः=एकार–ऐकार में, ओकारौकारयोः=ओकार–औकार में, तयोः=उन दोनों का, ज्ञेयम्=जानना चाहिए, मात्रा=एकमात्रा, मात्रिकम्=एकमात्रिक।

हिन्दी—एकार-ऐकार में कण्ठ्य की अर्धमात्रा तथा ओकार-औकार में (कण्ठ्य की) एक मात्रा होती है। उन दोनों के विवृत तथा संवृत (भेद होते) हैं। संवृत को मात्रिक (एकमात्रिक) और विवृत को द्विमात्रिक जानना चाहिए।

व्याख्या—पण्डित अवस्थी ने 'तु' का अर्थ 'वा' माना है—"तु चात्र वार्थे"। कौमुदीकार ने भी कहा है—

एदैतोः कण्ठतालु ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।

दोनों का उच्चारण-स्थान कण्ठ है लेकिन उच्चारण की मात्रा सबों को समान नहीं है। एकार-ऐकार में कण्ठ्य की आधी मात्रा और ओ-औ में कण्ठ्य की एकमात्रा है। (ए-ऐ), (ओ-औ) का विवृत और संवृत दो भेद है। संवृत के उच्चारण में एकमात्रा तथा विवृत के उच्चारण में दो मात्राएँ लगती हैं ॥ १९½ ॥

घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः ॥ २० ॥

अन्वय—सर्वे घोषाः संवृताः (सर्वे) अघोषाः विवृताः स्मृताः।

हिन्दी—सभी घोष संवृत और सभी अघोष विवृत कहे जाते हैं।

व्याख्या—'वा' पादपूरणार्थं है। मेदिनीकोष में कहा गया है—

"वा स्याद्विकल्पोपमयोर्वितर्के पादपूरणे।"

घोष – वर्णोच्चारण के समय गूंज का उठना घोष कहलाता है और गूंज का न उठना अघोष कहलाता है।[1]

विवृत—जिह्वा के स्थान से दूर रहना विवृत तथा

सवृत—जिह्वा के स्थान से हटकर समीप रहना संवृत कहलाता है।[2]

"**वर्णोच्चारणार्थं प्रयतनं प्रयत्नः**" अर्थात् वर्णोच्चारण के लिए प्रकृष्टरूप से यत्न करना (कोशिश करना) प्रयत्न (यत्न) है।

"**यत्र वर्णा व्यङ्ग्यत्वेन तिष्ठन्ति तत्स्थानम्**' अर्थात् जहाँ पर वर्ण व्यंग्य रूप से रहते हैं उसे 'स्थान' कहते हैं; जैसे —कण्ठ आदि।

करण—"**प्रयत्नसाधकं साधनं करणम्**" अर्थात् प्रयत्न को साधने वाला साधन करण है।

प्रयत्न (यत्न) दो प्रकार का होता है—

'यत्नो द्विधा आभ्यन्तरो बाह्यश्च।'

जो यत्न वर्णोत्पत्ति से पूर्व किया जाता है उसे आभ्यन्तर तथा जो वर्णोत्पत्ति के बाद किया जाता है उसे 'बाह्य' कहते हैं।

---

१. लघुसिद्धान्तकौमुदी—भैमीव्याख्या पृ० २७ २. वही, पृ० २६

"आद्यः पञ्चधा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात् ।" (१) स्पृष्ट, (२) ईषत्स्पृष्ट, (३) ईषदनिवृत, (४) विवृत और (५) संवृत ।

वर्णों की उत्पत्ति में जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भागों का उपयोग होता है ।

जिह्वा का किसी भी स्थान को स्पर्श करना 'स्पृष्ट', थोड़ा-सा स्पर्श करना 'ईषत्स्पृष्ट', जिह्वा का किसी भी स्थान से थोड़ा दूर रहना 'ईषद्विवृत', दूर रहना 'विवृत' तथा हटकर समीप रहना 'संवृत' प्रयत्न कहलाता है ।

स्पर्श—स्पृशति करणं स्थानं येषामुच्चारणे ते स्पर्शाः अर्थात् जिनके उच्चारण में करण तथा स्थान का स्पर्श हो उन्हें स्पर्श कहते हैं ।

स्पृष्ट—तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् अर्थात् स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्श अक्षरों का होता है ।

ईषत्स्पृष्ट—ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् अर्थात् ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न अन्तःस्थ अक्षरों का होता है ।

ईषद्विवृत—ईषद्विवृतमूष्मणाम् अर्थात् ईषद्विवृत प्रयत्न ऊष्म अक्षरों का होता है ।

विवृत—विवृतं स्वराणाम् अर्थात् स्वरों का विवृत-प्रयत्न होता है ।

सवृत—ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् अर्थात् ह्रस्व अवर्ण का उच्चारण-काल में संवृत प्रयत्न होता है और वही ह्रस्व अवर्ण प्रयोग-सिद्धि के समय विवृत-प्रयत्न होता है ।

चूंकि स्पृष्ट-प्रयत्न स्पर्शाक्षरों का होता है और स्पर्श "कादयो मावसानाः स्पर्शाः" के अनुसार 'क' से 'म' पर्यन्त वर्ण अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग वर्ण स्पष्ट हैं ।

ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न अन्तःस्थ वर्णों को कहते हैं ।

अन्तःस्थ वर्ण—"यणोऽन्तःस्थाः" अर्थात् अन्तःस्थ वर्ण य, व, र, ल हैं । य र ल वाः अन्तःस्थाः । प्रत्याहार-सूत्रों में भी स्वर और व्यञ्जनों के मध्य इनको पढ़ा गया है । ये व्यञ्जन भी हैं और स्वर भी । इसीलिए इसे (Semi-

Vowel) कहा जाता है। वर्ण अन्तःस्थ इसलिए कहलाते हैं क्योंकि ये स्वर और व्यञ्जन के बीच के वर्ण हैं।

"शल ऊष्माणः" अर्थात् श, ष, स, ह वर्ण ऊष्मा हैं और ये ईषद्विवृत कहलाते हैं। 'अचः स्वराः' अर्थात् अच् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) स्वर हैं। ये ही स्वर 'विवृतं स्वराणाम्' से विवृत प्रयत्न कहलाते हैं।

"बाह्ययत्नस्त्वेकादशधा" (बाह्य यत्नः—तु-एकादशधा) अर्थात् बाह्य प्रयत्न एकादश प्रकार के हैं—

"विवारः संवारः श्वासो नादोऽघोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति।"

विवार (खुला हुआ)—वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को 'विवार' कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण करते समय मुख खुलता है वे विवार-यत्न वाले कहलाते हैं।

संवार (बन्द)—वर्णोच्चारण के समय मुख के नहीं फैलने को 'संवार' कहते हैं।

श्वास—वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को श्वास-यत्न कहते हैं।

नाद—वर्णोच्चारण के समय गम्भीर ध्वनि होने को नादयत्न कहते हैं।

अल्पप्राण (Unaspirated)—वर्णोच्चारण के समय प्राणवायु के अल्प उपयोग को अल्पप्राण तथा अधिक उपयोग को महाप्राण (Aspirated) कहते हैं। के० एल० पाइक ने अल्पप्राण को Lenis (अशक्त) और महाप्राण को Fortis (सशक्त) कहा है।[1]

'खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च' अर्थात् खर् प्रत्याहार के वर्ण (ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स) विवार, श्वास और अघोष यत्न वाले कहलाते हैं।

"हशः संवारा नादा घोषाश्च' अर्थात् हश् प्रत्याहार के वर्ण (ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द) संवार, नाद और

1. Phonetics, p. 128

घोष-यत्न वाले कहलाते हैं। **'वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः'** अर्थात् वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प), तृतीय (ग, ज, ड, द, ब), पञ्चम (ङ, ञ, ण, न, म) और यण्-प्रत्याहार (य, व, र, ल) वर्ण अल्पप्राण-यत्न वाले कहलाते हैं। **'वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः'** अर्थात् वर्गों के द्वितीय वर्ण (ख, छ, ठ, थ, फ), चतुर्थ वर्ण (घ, झ, ढ, ध, भ) तथा शल् प्रत्याहार (श, ष, स, ह) के वर्ण महाप्राण-यत्न वाले कहलाते हैं ।। २० ।।

स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ।। २१ ।।

अन्वय—स्वराणाम् ऊष्णाम् च एव करणं विवृतं स्मृतम्। एङौ तेभ्योऽपि विवृतौ ऐचौ ताभ्याम् तथैव च।

शब्दार्थ—स्वराणाम्=स्वरों का, ऊष्मणाम्=ऊष्माओं का, विवृतौ-विवृततर, एङ्=ए, ओ, ऐच्=ऐ तथा औ।

हिन्दी—स्वर और ऊष्म वर्णों का करण विवृत, ए तथा ओ का करण उससे भी ज्यादा विवृत अर्थात् विवृततर तथा ऐ तथा औ का करण तो उससे भी ज्यादा विवृत अर्थात् विवृततम कहा गया है।

व्याख्या—स्वर (अच्) वर्ण तथा ऊष्म (शल ऊष्माणः—श, ष, स, ह) वर्ण विवृत हैं। चूंकि 'विवृतं स्वराणाम्' से सभी स्वर विवृत हैं तथा ऊष्म वर्ण ईषद्विवृत हैं। ईषद्विवृत में भी विवृतत्व है। इसीलिए स्वर और ऊष्म को विवृत कहा। जिस स्वर के उच्चारण में मुख जितना खुलता है उसमें विवृतत्व उतना ही अधिक पाया जाता है। जैसे—एङ् अर्थात् ए—ओ की विवृतता स्वर (अ, इ उ, ऋ, ऌ) से अधिक है और ए—ओ से अधिक विवृतत्व ऐ—औ में पाया जाता है। क्योंकि पूर्व की अपेक्षा परवर्ती के उच्चारण में अधिक मुंह विकसित होता है।

ऊष्म (Spirants, breath sounds)—ऋग्वेद प्रातिशाख्य में **"उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः"** के अनुसार ऊष्म वर्ण आठ हैं—ह, श, ष, स, अः, ≍ क, ≍ प, अं इति ।। २१ ।।

अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते ।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ॥ २२ ॥

अन्वय—अनुस्वारयमानां च स्थानं नासिका उच्यते । अयोगवाहाः आश्रयस्थानभागिनः विज्ञेयाः ।

शब्दार्थ—स्थानम् = उच्चारण स्थान, उच्यते = कहा जाता है, अयोगवाहाः = 'अ' के योग से कार्य का जो वहन करे । विज्ञेयाः = जानना चाहिए, आश्रय-स्थानभागिनः = आश्रयस्थानभागी अर्थात् आश्रय = वर्ण के स्थान ।

हिन्दी—अनुस्वार और यमों (यम वर्णों) का उच्चारण स्थान नासिका है । अयोगवाहों को उनका आश्रयवर्णस्थानी जानना चाहिए अर्थात् अयोगवाह वर्णों का उच्चारण स्थान उनके आश्रय वर्ण का उच्चारण स्थान होता है ।

व्याख्या—अनुस्वार किसी भी वर्ण के ऊपर बिन्दु-सा चिह्न (˙) है । स्वरम् अनुप्रयुज्यते इति अनुस्वारः । यथा—अं । अर्थात् स्वर के बाद जिसका प्रयोग हो । यथा—अं । यहाँ 'अ' के बाद अनुस्वार (˙) का उच्चारण होता है । इसका प्रयोग हमेशा स्वर के ऊपर बिन्दु रूप से होता है । यथा—अं । अनुस्वार का उच्चारण स्थान नासिका है—"नासिकाऽनुस्वारस्य ।"

यम—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, नारदीय शिक्षा के अनुसार अननुनासिक स्पर्श वर्णों के बाद में अनुनासिक स्पर्श हो तो उन दोनों के मध्य में "अनुनासिक" स्पर्श से अतिरिक्त एक नासिक्य वर्ण का आगम हो जाता है जिसे "यम" कहते हैं ।[1] शौनक ने 'यम' के बारे में कहा है—

"स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु ॥[2]

अर्थात् अननुनासिक स्पर्श ही 'यम' संज्ञक नासिक्य वर्ण हो जाता है अनुनासिक स्पर्श बाद में होने पर । अननुनासिक स्पर्श हैं—क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द ध प फ ब भ = २०;

१. ऋ० प्रा० पृ० ४११, २. वही० ६।२९.

कतिपय आचार्यों का मत है कि प्रत्येक अननुनासिक स्पर्श के लिए एक 'यम' है। यही कारण है कि अननुनासिक स्पर्शों (स्थानी) के बीस होने के कारण 'यम' भी बीस हैं। यमों की संख्या—

(i) अघोष अल्पप्राण 'यम'—क्ँ, च्ँ, ट्ँ, त्ँ, प्ँ

(ii) अघोष महाप्राण 'यम'—ख्ँ छ्ँ, ठ्ँ, थ्ँ, फ्ँ

(iii) सघोष अल्पप्राण 'यम'—ग्ँ, ज्ँ, ड्ँ, द्ँ, ब्ँ

(iv) सघोष महाप्राण 'यम'—घ्ँ, झ्ँ, ढ्ँ, ध्ँ, भ्ँ

उपर्युक्त 'यम' वर्णों का उच्चारण स्थान भी नासिका है तथा 'च' के सामर्थ्य से' "ञमङणनानां नासिका च" के अनुसार ञ्, म्, ङ्, ण्, न् का भी उच्चारण स्थान नासिका है।

अयोगवाह—अयोगेन एव वहति कार्यम् इति अयोगवाहः।

यथा—अं, अः इत्यनुस्वारविसर्गौ अयोगवाहौ।[1] अर्थात् 'अ' के योग से कार्य का जो वहन करे, वह 'अयोगवाह' कहलाता है; जैसे—अं, अः। 'अ' के ऊपर तथा बगल में रहने वाले अनुस्वार तथा विसर्ग 'अयोगवाह' हैं। यहाँ अनुस्वार तथा विसर्ग का उच्चारण-स्थान आश्रित का ही उच्चारण स्थान होगा। जैसे—'अ' का उच्चारण-स्थान 'कण्ठ' (अकुहविसर्जनीयां कण्ठः) है अतः अनुस्वार तथा विसर्ग दोनों का उच्चारण स्थान 'कण्ठ' ही होगा। लेकिन विसर्ग का कण्ठस्थानी होना सिर्फ अकाराश्रित होने पर ही सिद्ध है क्योंकि विसर्ग का स्थान उसके आश्रयभूत वर्ण (आश्रयस्थान भागी) के अनुसार होता है; जैसे—'कविः' हरिः मुनिः में इकाराश्रित होने से विसर्ग का स्थान तालु (इचुयशानां तालु) होगा। इसी तरह साधुः भानुः आदि उदाहरणों में विसर्ग का स्थान ओष्ठ है।

पण्डित 'अवस्थी' ने भावप्रकाशकार के साथ सहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि—अनुस्वार भी आश्रयस्थानभागी होता है—

"अनुस्वारोऽपि आश्रयस्थानभागीति मत्वैव शब्दरत्नकृता "हरिं जयति" इत्यत्रापादितो जश्, जकारः स्यात् इति उक्तं, भावप्रकाशकृता।" अर्थात् 'हरिं' के अनुस्वार का उच्चारण-स्थान तालु है॥ २२॥

१. पा० शि० (गिरि), पृ० ३८.

अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरानुगः ।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रोः शषसेषु च ॥ २३ ॥

अन्वय—अलाबुवीणानिर्घोषः दन्तमूल्यः स्वरानुगः अनुस्वारः नित्यं कर्तव्यः तु ह्रोः शषसेषु च ।

शब्दार्थ—अलाबुः=लम्बी लौकी (तुम्बी फल), अलाबुवीणानिर्घोषः= लम्बी लौकी की बनी वीणा से निकलने वाले निर्घोष (ध्वनि) के समान, दन्त-मूल्यः=दन्तमूल में उत्पन्न होने वाला, स्वरानुगः=स्वरानुगामी अर्थात् स्वर के बाद आने वाला, अनुस्वारः=अनुस्वार, कर्तव्यः=करना चाहिए, नित्यं=नित्य ही, ह्रोः = हकार और रेफ परे रहते, शषसेषु=श, ष, स परे रहते, च=और।

हिन्दी—तुम्बीफल (लम्बी लौकी) की बनी वीणा से निकलने वाले निर्घोष के समान दन्तमूल्य, स्वरानुगामी अनुस्वार का नित्य ही (उच्चारण) करना चाहिए यदि हकार, रेफ, श, ष, वर्ण परे रहे तो ।

व्याख्या—यहाँ सभी प्रथमान्त 'अलाबुवीणानिर्घोषः, दन्तमूल्यः, स्वरानुगः' अनुस्वारः के विशेषण हैं ।

ह्रोः—यह 'ह्र' के सप्तमी द्विवचन का रूप है जिसका अर्थ होता है—हकार और रेफ परे रहते ।

दन्तमूल्यः—'दन्तमूल' से 'भव' अर्थ में '**शरीरावयवाच्च**' सूत्रसे यत् प्रत्यय[1]।

स्वरानुगः— जो स्वरों का अनुगमन करता है—

"स्वरान् अनुगच्छति इति स्वरानुगः।"

हकार परे रहते नित्य उच्चरित अनुस्वार का उदाहरण—परिबृंहणम् ।

रेफ परे रहते—कुण्डं रथेन

स परे रहते – कंसः

ष परे रहते—इन्द्रियाणां षष्ठं मनः आदि ।

कर्तव्यः—डुकृञ् करणे -तव्यत्[2] ॥ २३ ॥

---

१. अ० ४-३-५५, २. अ० ३-१-९६

अनुस्वारे विवृत्त्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयाद्यत्रौकारवकारयोः ॥ २४ ॥

अन्वय—अनुस्वारे विवृत्त्यां तु विरामे च अक्षरद्वये ओष्ठ्यौ द्विः विगृह्णीयात् तु यत्र ओकारवकारयोः।

शब्दार्थ—अनुस्वारे=अनुस्वार में, विवृत्त्यां=विवृत्ति में अर्थात् उच्चारण भङ्ग में, विरामे=विराम में (अवसान में), च+अक्षरद्वये—और द्व्यक्षर अर्थात् संयुक्ताक्षर में, द्विः+ओष्ठ्यौ, द्विः=दो बार ओष्ठ्यौ=ओष्ठों को। विगृह्णीयात्=खोलें, यत्र ओकारवकारयोः=जिस तरह ओकार (औकार) और वकार के उच्चारण में।

हिन्दी—अनुस्वार, विवृत्ति अर्थात् उच्चारण भङ्ग, विराम अर्थात् अवसान (वर्णों का उच्चारणाभाव) तथा संयुक्ताक्षर परे रहने पर पूर्व अच् (स्वर) के उच्चारण में ओष्ठ को दो बार खोलना चाहिए जिस तरह ओकार (औकार) और वकार के उच्चारण में।

व्याख्या—विवृत्याम्—विवृत्ति का सप्तम्यन्त रूप है। वि–वृत्–क्तिन्, अवस्थी जी ने कहा है—विवृत्तिः-विवेकेन पृथक्भावेन वर्तते इति विवृत्तिः। विवृत्ति के चार प्रकार हैं—

विवृत्तयश्चतस्रो वा विज्ञेया इति मे मतम्।
अक्षराणि नियोगेन तासां नामानि मे शृणु॥
ह्रस्वादिर्वत्सानुसृता वत्सानुसारणी चाग्रे।
पाकवत्युभयोर्ह्रस्वा दीर्घवत्ता पिपीलिका॥ २४॥

व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ॥२५॥

अन्वय—व्याघ्री यथा पुत्रान् भीता पतनभेदाभ्यां दंष्ट्राभ्यां हरेत् न च पीडयेत् तद्वत् वर्णान् प्रयोजयेत्।

शब्दार्थ—व्याघ्री=व्याघ्रपत्नी, यथा=जिस प्रकार, हरेत्=ले जाती है, पुत्रान्=पुत्रों को, दंष्ट्राभ्याम्=दाँतों से, पीडयेत=पीडा पहुँचाती है, भीता=

डरी हुई, भयभीत, पतनभेदाभ्यां=गिरने और छेद हो जाने से, तद्वत्=उसी प्रकार, वर्णान्=वर्णों को, प्रयोजयत्=प्रयोग करे, उच्चारण करे।

हिन्दी—जिस प्रकार व्याघ्री पुत्रों को गिरने और छेद होने के डर से डरी हुई दाढ़ों से ले जाती है और पीडित नहीं करती उसी प्रकार वर्णों का प्रयोग करे (उच्चारण करे)।

व्याख्या—व्याघ्री या मार्जारी अपने बच्चों को एक स्थान से दूसरे स्थानपर दाँतों से पकड़कर ले जाती है लेकिन उन दाँतों से बच्चों को उतने ही जोर से पकड़ती हैं कि दांतों से छूटकर वह गिरता नहीं है और न दाँत ही गड़ते हैं। वर्णों के प्रयोक्ता (उच्चारयिता, उच्चारणकर्ता) को भी वर्णों के उच्चारण में यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि किस वर्ण का उच्चारण कितनी मात्रा में करें। वर्णों का उच्चारण मात्रा से अधिक या मात्रा से कम होने पर दोषसंयुक्त हो जाता है। ह्रस्व इ का उच्चारण दीर्घ ई, दीर्घ ऊ का उच्चारण 'उ', श का उच्चारण स, 'स' का उच्चारण श, ष का उच्चारण 'स' आदि उच्चारण दोष है। जिस वर्ण का जो स्थान और नियत मात्रा है उससे कम वेश होने पर उच्चारण-दोष आ जाता है। जिस प्रकार बच्चा माता का स्तन पान करता है अर्थात् स्तन पर दाँतों या दाढ़ों का उतना ही दबाव डालता है जितने से स्तन से दुग्ध-क्षरण होता है और दाँतों के दबाव से माता पीड़ा महसूस नहीं करती। लेकिन यह दृष्टान्त उचित नहीं है क्योंकि बच्चा प्रौढ़ नहीं है। जिस प्रकार बच्चे के दाँतों का हल्का दबाव माता के स्तन से दुग्ध-क्षरण कराने में असमर्थ होने के कारण माता के लिए पीड़ादायक है क्योंकि दुग्ध-क्षरण नहीं होने से स्तन में पीड़ा होती है। साथ ही, दाँतों के गड़ाने से भी पीड़ा होती है। उसी प्रकार दीर्घ का उच्चारण ह्रस्व तथा ह्रस्व का उच्चारण दीर्घ श्रोता के कर्णों को पीड़ित करता है। इसीलिए वर्णों के उच्चारणकर्ता को वर्णों के उच्चारण करने में व्याघ्री या मार्जारी की तरह निपुण होना चाहिए ॥ २५ ॥

यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः खे अराँ इव खेदया ॥ २६ ॥

अन्वय—यथा सौराष्ट्रिका नारी 'तक्रँ' इति अभिभाषते। एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः खे अराँ इव खेदया।

शब्दार्थ—यथा=जिस प्रकार, सौराष्ट्रिका=सुराष्ट्र देश की, इति=अभिभाषते=ऐसा कहती है, उच्चारण करती है, एवम्=इस प्रकार, रङ्गाः=रक्तवर्ण, प्रयोक्तव्याः=प्रयुक्त होने चाहिए।

हिन्दी—जिस प्रकार सुराष्ट्र देश की नारी 'तक्रँ' इस तरह कहती है उसी प्रकार रङ्ग का उच्चारण करना चाहिए जैसे "खे अराँ इव खेदया"।

व्याख्या—सुराष्ट्रे भवः रौराष्ट्रः। यहाँ 'तत्र भवः' (अ० ४-३-५३) से अण् प्रत्यय हुआ, स्वार्थे कन् से कन् होकर—सौराष्ट्रक, स्त्रीलिङ्ग में सौराष्ट्रिका, सौराष्ट्र (सूरत) प्रदेश की कामिनी। निरनुनासिक शब्द को सानुनासिक उच्चारण करना ही 'रङ्ग' कहलाता है। सौराष्ट्र की स्त्रियाँ निरनुनासिक शब्द 'तक्र' का उच्चारण सानुनासिक 'तक्रँ' करती हैं।

'रङ्ग' के बारे में 'शौनक' ने कहा है—

"रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः"[1] अथर्थात् अनुनासिक (वर्ण) 'रक्त' संज्ञक है। अनुनासिक का लक्षण—"अनुनासिकोऽन्त्यः"[2] अर्थात् (प्रत्येक वर्ग का) अन्तिम वर्ण अनुनासिक (nasal) है; यथा—ङ, ञ, ण, न, म इति। उव्वट ने कहा है—

"पूर्वस्मत्स्थानादनुनासिकः स्वरः" अर्थात् जहाँ नकार का लोप होता है या रेफ होता है या 'ऊष्मन्' होता है वहाँ उस नकार के स्थान से पूर्व वाला 'स्वर' अनुनासिक हो जाता है। जैसे—"खे अराँ इव खेदया" इस उदाहरण मे 'अरान्' के 'न्' का लोप होकर उसका पूर्ववर्ती स्वर 'आ' अनुनासिक होकर 'अराँ' हो गया है। 'रक्त' (अनुनासिक) ह्रस्व (स्वर वर्ण) को दीर्घ कर देते हैं—

---

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्य १।३६।

२. वही० १४।५१।

"रक्तं ह्रस्वं द्राघयन्त्युग्रँ ओकः।"[१] पण्डित अवस्थी ने कहा है—नकारे रुत्वे जाते योऽनुनासिको विधीयते स रङ्गः।"

नारदीय शिक्षा में कहा गया है—

"नकारः स्वरसंयुक्तश्चतुर्युक्तो विधीयते।
रेफो रङ्गश्च लोपश्च अनुस्वारोऽपि वा क्वचित्॥"

लोमश शिक्षा में 'रङ्ग' के दो प्रकार कहे गये हैं—

"रङ्गस्तु द्विविधो ज्ञेयः, स्वरपरो व्यञ्जनपरः।"[२]

अर्थात् स्वर पर रङ्ग और व्यञ्जन पर रङ्ग।

डॉ० रामदेव त्रिपाठी ने कहा है कि 'रङ्ग' कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं, वर्ण-धर्म मात्र है। पाणिनीय शिक्षा में अनुस्वार का स्थान-निर्देश है, उसे वर्ण-गणना में स्वतन्त्र स्थान भी प्राप्त है, पर 'रङ्ग' की चर्चा न तो वर्णमाला में है, न स्थान-निर्देश-प्रसंग में। डॉ० त्रिपाठी ने गुरुप्रसाद जी का हवाला देते हुए लिखा है—"अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा" से जो अनुनासिक होता है, उसे ही वैदिक परिभाषा में 'रङ्ग' कहते हैं। अतः 'रङ्ग' आनुनासिक्य का ही दूसरा नाम है।[3]

रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन् नो ग्रसेत्पूर्वमक्षरम्।
दीर्घस्वरं प्रयुञ्जीयात्पश्चान्नासिक्यमाचरेत्॥ २७॥

अन्वय—रङ्गवर्णं प्रयुन्जीरन् पूर्वम् अक्षरम् नो ग्रसेत्। दीर्घस्वरं प्रयुन्जीयात् पश्चात नासिक्यम् आचरेत्।

शब्दार्थ—प्रयुञ्जीरन् = प्रयोग करे (उच्चारण करे), न ग्रसेत् = न ग्रसे, (ग्रास न हो), प्रभावित न हो, पूर्वमक्षरम् = पूर्व वर्ण, दीर्घस्वरम् = स्वर दीर्घ हो, प्रयुन्जीयात् = प्रयोग करे (उच्चारण करे), पश्चात् + नासिक्यम् + आचरेत् = बाद में नासिक्य अर्थात् अनुनासिक का आचरण करे (उच्चारण करे)।

---

१. वही० १।१४
२. लोमश शिक्षा—श्लोक ७
३. [illegible] पृ[illegible]

हिन्दी—रङ्ग वर्ण ऐसे प्रयुक्त हों कि पूर्व वर्ण उससे (रङ्ग वर्ण से) ग्रसित न हो अर्थात् प्रभावित न हो। रङ्ग का स्वर दीर्घ उच्चरित हो पश्चात् (बाद में) नासिक्य अर्थात् अनुनासिक का उच्चारण हो।

व्याख्या—उच्चारणकर्ता के लिए आदेश है कि पूर्ववर्ण तथा रङ्गवर्ण का उच्चारण पृथक् रूपेण हों क्योंकि दोनों को मिलाकर उच्चारण करना दोष्युक्त है। तात्पर्य यह कि जिस तरह पूर्ववर्ण और रङ्गवर्ण का सम्मिलन न हो सके उसी तरह की पटुता से रङ्गवर्ण का उच्चारण करना चाहिए। रङ्गवर्ण में आने वाले स्वर का उच्चारण दीर्घ होगा तथा बाद में अनुनासिक का उच्चारण करना चाहिए अर्थात् रङ्ग के वर्णों के अन्त में नासिक्य (अनुनासिक) का उच्चारण करे। यही बात याज्ञवल्क्य शिक्षा में कही गयी है—

—रङ्गे चैव समुत्पन्ने न ग्राह्यं पूर्वमक्षरम्।
स्वरं दीर्घं प्रयुञ्जीत पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥ २७ ॥[1]

हृदये चैकमात्रस्त्वर्द्धमात्रस्तु मूर्धनि।
नासिकायां तथार्द्धं च रङ्गस्यैवं द्विमात्रता ॥ २८ ॥

अन्वय—हृदये च एकमात्रः मूर्धनि तु अर्धमात्रः नासिकायां तथा अर्द्धम् च रङ्गस्य द्विमात्रता।

शब्दार्थ—हृदये = हृदय में, च + एकमात्रः + तु + अर्द्धमात्रः + तु = और एकमात्रा परन्तु आधी मात्रा, मूर्धनि = मूर्धा में, नासिकायाम् = नासिका में तथा + अर्द्धम् = तथा अर्धमात्रा, रङ्गस्य + एवम् = इस प्रकार रङ्ग की, द्विमात्रता = दो मात्राएँ।

हिन्दी—हृदय में एकमात्रा, मूर्धा में आधी मात्रा और नासिका में आधी मात्रा—इस प्रकार रङ्ग की दो मात्राएँ हैं। ०१ + $\frac{१}{२}$ + $\frac{१}{२}$ = ०२ मात्राएँ।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में रङ्ग की कुल मात्राएँ बतायी गयी हैं। यह श्लोक अत्यन्त ही स्फुटार्थं है। इससे रङ्ग की द्विमात्रिकता सिद्ध है। पण्डित अवस्थी को इस श्लोक में प्रक्षिप्तता भासित होती है ॥ २८ ॥

---

१. याज्ञवल्क्य शिक्षा—श्लोक १२८

हृदयादुत्करे तिष्ठन्कांस्येन समनुस्वरन् ।
मार्दवं च द्विमात्रं च जघन्वाँ२ इति निदर्शनम् ॥ २९ ॥

अन्वय—हृदयादुत्करे विष्ठन् कांस्येन समनुस्वरन् मार्दवं च द्विमात्रं च (आचरेत्) जघन्वाँ इति निदर्शनम् ।

शब्दार्थ—हृदयात् + उत्करे = हृदयदेश से लेकर ऊर्ध्वदेश (शिर तक) में, तिष्ठन् = उच्चारित, व्याप्त, कांस्येन = कांस्य पात्र के स्वर से, समनुस्वरन् = समानता करते हुए, मार्दवम् = मृदुता, च = और, द्विमात्रम् = द्विमात्रिकता, अर्थात् दीर्घता चाहिए, निदर्शनम् = दृष्टान्त ।

हिन्दी—हृदय देश से लेकर उर्ध्व देश अर्थात् मूर्धा में उच्चारित रङ्ग का कांस्यपात्र के स्वर के समान मृदुत्व द्विमात्रिक उच्चारण करे; जैसे—"जघन्वाँ"[1] ॥ २९ ॥

मध्ये तु कम्पयेत्कम्पमुभौ पाश्वौं समौ भवेत् ।
सरङ्गं कम्पयेत्कम्पं रथ्यो वेति निदर्शनम् ॥ ३० ॥

अन्वय—मध्ये तु कम्पं कम्पयेत् उभौ पाश्वौं समौ भवेत् । कम्पं सरङ्गं कम्पयेत् 'रथ्यो वेति' निदर्शनम् ।

शब्दार्थ—मध्ये = स्वरोच्चारण के मध्य में, कम्पयेत् = कम्पन करे, कम्पयुक्त उच्चारण करे, कम्पम् + उभौ, उभौ पार्श्वौ—दोनों तरफ (आदि-अवसान में), समौ = समान, भवेत् = हो । सरङ्गं = रङ्ग युक्त, कम्पम्=कम्प स्वर का, कम्पयेत् = कम्पन करे, उच्चारण करे, निदर्शनम् = उदाहरण ।

हिन्दी—स्वरोच्चारण के मध्य में कम्प स्वर का उच्चारण कम्पयुक्त करे और दोनों पार्श्वों में अर्थात् (आदि और अन्त में) समान रूप हो । कम्प स्वरों का उच्चारण सरङ्ग अर्थात् रङ्ग युक्त करे; यथा—'रथ्यो वेति' इसका उदाहरण है ।

---

१. ऋग्वेद संहिता १।५२।८.

व्याख्या कम्प झटके को कहते हैं। शौनक ने कहा है—

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रविष्ट एव च।
एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः ॥[1]

अर्थात् उदात्त (उच्च) या 'स्वरित' बाद में हों तो जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट—ये (स्वरित) स्वर 'कम्प' को प्राप्त करते हैं अर्थात् ये 'कम्प' के साथ उच्चारित होते हैं।

"तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमेव वा"[2] अर्थात् उस (स्वरित) की आधी मात्रा अथवा सम्पूर्ण स्वरित का आधा भाग उदात्त से उदात्ततर उच्चरित होता है। और—

"न चेत्। उदात्तं वोच्यते किंचित् स्वरितं वाक्षरं परम्।"[3]

अर्थात् स्वरित का अवशिष्ट अनुदात्त अंश अनुदात्त उच्चारित होता है। यदि बाद में 'उदात्त' हो तो पहले उदात्ततर और बाद वाले 'उदात्त' उच्चारणों के बीच में अनुदात्त का उच्चारण करने में कठिनाई होना स्वाभाविक है क्योंकि स्वरित के प्रथम (उदात्त) अंश का उदात्ततर के रूप में उच्चारण करने के तुरन्त बाद ही 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण करने लिए ध्वनि को नीचे उतरना पड़ता है और परवर्ती उदात्त का उच्चारण करने के लिए ध्वनि को पुनः तुरन्त ही ऊपर चढ़ना पड़ता है। ऐसी स्थिति में स्वरित के अनुदात्त अंश का उच्चारण झटके के साथ होता है। यही 'झटका' 'कम्प' कहलाता है।

'रथ्यो वेति निदर्शनम्' का पाठान्तर 'रथीवेति निदर्शनम्' भी मिलता है। 'रथ्यो वेति निदर्शनम्' पाठ श्री नारायण मिश्र जी का है। अन्यत्र 'रथीवेति' ही मिलता है। यहाँ 'तु' का प्रयोग 'एव' अर्थ में होता है।

लोमशशिक्षा में कहा गया है—

"केन कम्पातितः कम्पः संयोगो येन कम्पते।
किंवा कम्प इति प्रोक्तो येनासौ कम्पमुच्यते॥

---

१. ऋ० प्रा० ३।३४.
२. ऋ० प्रा० ३।४
३. ऋ० प्रा० ३।६

"पूर्वाङ्गेण हतं पूर्वं पराङ्गेण तु धारितम् ।
व्यञ्जनेन द्विधा भिन्नः स्वरो भीतस्तु कम्पते ॥ ३० ॥"[1]

एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः ।
सम्यग्वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३१ ॥

अन्वय—एवं वर्णा प्रयोक्तव्याः न अव्यक्ताः न च पीडिताः । सम्यक् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ।

शब्दार्थ—एवम् = इस प्रकार, वर्णाः = वर्ण, प्रयोक्तव्याः = उच्चारण करना चाहिए, न अव्यक्ताः = अस्पष्ट नहीं, पीडिताः = पीडित, वर्णप्रयोगेण = वर्णों के उच्चारण से, ब्रह्मलोके = ब्रह्मलोक में, महीयते = पूजित होता है ।

हिन्दी—इस प्रकार वर्णों का उच्चारण करना चाहिए अर्थात् पूर्वोक्त विधि से वर्णों का उच्चारण करना चाहिए । (वर्णों का उच्चारण) अव्यक्त और पीडित नहीं करना चाहिए । वर्णों का सम्यक् उच्चारण करने से (उच्चारण करने वाला) ब्रह्मलोक में पूजित होता है ।

व्याख्या—एवम् —इस प्रकार (यहाँ 'एवम्' का प्रयोग पूर्ववर्ती उच्चारण विधियों के लिए है अर्थात् वर्णोच्चारण की जो विधियाँ बतायी गयी हैं उन्हीं विधियों से वर्णों का उच्चारण करना चाहिए । इन विधियों का उल्लङ्घन करने से उच्चारण अस्पष्ट और पीडित होता है । शिक्षाकार का आदेश है कि—**"नाव्यक्ता न च पीडिताः"** अर्थात् वर्णों का उच्चारण अव्यक्त और पीडित नहीं होना चाहिए । वर्णों का उच्चारण सम्यक् रूप से अर्थात् विधियों के अनुसार करने पर उच्चारण कर्ता ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है । उच्चारण अव्यक्त होने का अभिप्राय है कि किसी वर्ण का उच्चारण उचित मात्रा में न करके न्यून मात्रा से हो तथा पीडित से अभिप्राय है मात्रा से अधिक बल (stress) पड़ने से जो उच्चारण होता है, अर्थात् जो सुनने में कर्कश लगे । जैसे—ह्रस्व मात्रा के स्थान पर दीर्घमात्रा का उच्चारण करना । अव्यक्त और पीडित उच्चारण करने वाला नष्ट होता है । याज्ञवल्क्य ने भी उच्चारण की दिशा में निर्देश

१. लोमशी शिक्षा, श्लोक ३-४ ।

किया है—'मधुरं चापि नाव्यक्तं सुव्यक्तं न च पीडितम् ।' अर्थात् वर्णों का उच्चारण मधुर स्पष्ट (अव्यक्त रहित), सुव्यक्त हो लेकिन पीडित (कर्कश) नहीं हो। 'नाव्यक्ता न च पीडिताः'' में नञ्‌द्वय निषेध की दृढ़ता को सूचित करता है ॥ ३१ ॥

गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥ ३२ ॥

अन्वय—गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः अनर्थज्ञः अल्पकण्ठः च षट् एते पाठकाधमाः ।

शब्दार्थ—गीती = गाते हुए पढ़ने वाला, शीघ्री = शीघ्रता से पढ़ने वाला, शिरःकम्पी = शिर हिला-हिला कर पढ़ने वाला, लिखितपाठकः = स्वयं लिखित पाठ का अध्येता, अनर्थज्ञः = बिना अर्थ जाने पढ़ने वाला, अल्पकण्ठः = बहुत कम कण्ठस्थ करने वाला, फँसे गले से पढ़ने वाला, षडेते = ये छह, पाठकाधमाः = अधम पाठक हैं।

हिन्दी—गुनगुनाते हुए पढ़ने वाला, जल्दी-जल्दी पढ़ने वाला, शिर हिला-हिला कर पढ़ने वाला, जैसा पुस्तक में लिखित है ठीक वैसा ही बिना उपयुक्त आरोह-अवरोह के पढ़ने वाला, बिना अर्थ समझे ही पढ़ने वाला तथा फँसे गले से पाठ पढ़ने वाला—ये छह पाठक अधम हैं।

व्याख्या—गीती—गा-गा-गाकर पढ़ने वाला, गाकर पढ़ने से यति भङ्ग का दोष आता है। श्रोता को सुनने में सन्देह उत्पन्न होता है। किसी भी शब्द का उच्चारण अव्यक्त और पीडित हो सकता है।

शीघ्री—जल्दी-जल्दी पढ़ने से अव्यक्तता अर्थात् स्पष्टता का अभाव होता है।

शिरःकम्पी—जो शिर हिलाता हुआ, झूमता हुआ पढ़ता है, वह वर्णों के उच्चारण में पौर्वापर्य का स्पष्ट अन्तर नहीं दिखा पाता है।

तथा लिखितपाठकः—पुस्तक में जैसा लिखा है, उसे वैसे ही पढ़ने वाला, न तो आरोह पर ध्यान देता है और न अवरोह पर। आरोह-अवरोह के अन्तर से भी अर्थ में भेद आ जाता है। जो अनर्थज्ञ है, उसे पढ़ने का लाभ मिल ही

नहीं सकता। अल्पकण्ठ अर्थात् फँसे गले से पढ़ने पर शब्दों का उच्चारण सुस्पष्ट नहीं होगा और श्रोता को जो अर्थ इष्ट होगा वह समझ में न आकर अनिष्ट अर्थ समझ में आ जायेगा। इसीलिए उपर्युक्त उच्चारण-दोषों से बचना चाहिए॥३२॥

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥ ३३॥

अन्वय—माधुर्यम् अक्षरव्यक्तिः पदच्छेदः तु सुस्वरः धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः।

शब्दार्थ—माधुर्यम् = सुनने में मधुर, सुश्राव्य, अक्षरव्यक्तिः = स्पष्ट अक्षरोच्चारण, पदच्छेदः = पदों का विभाग, सुस्वरः = उदात्तादि स्वरों का शोभन उच्चारण करना, धैर्यम् = गम्भीरता पूर्वक, धीरे-धीरे मन्दगति से, लयसमर्थम् = लयसम्पन्नता, लययुक्त, षड् + एते = ये छह, पाठकाः = पाठक सम्बन्धी, गुणाः = गुण।

हिन्दी—माधुर्य, स्पष्ट अक्षरोच्चारण, पदच्छेद, सुस्वर, धैर्य तथा लयसम्पन्नता—ये छह पाठक के गुण हैं।

व्याख्या—पाठक के पाठ में माधुर्य (मधुरता), अक्षरों की सुस्पष्टता, पदों का विच्छेदपूर्वक उच्चारण, उचित स्वर, धैर्य (स्थिरता) तथा लय या प्रवाह आवश्यक है। पाठक के पुस्तक पढ़ने की कला की ओर इसमें संकेत किया गया है। आज छात्रों में प्रायः इसका अभाव-सा है॥ ३३॥

शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम्॥ ३४॥
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्॥३५॥

अन्वय—शङ्कितं, भीतम्, उद्घुष्टम्, अव्यक्तम्, अनुनासिकम्, काकस्वरं, शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम्, उपांशुदष्टं, त्वरितं, निरस्तं,

विलम्बितं, गद्‌गदितं, प्रगीतम्, निष्पीडितं, ग्रस्तपदाक्षरं च न वदेत् न दीनं न तु सानुनास्यम् ।

शब्दार्थ—शङ्कितम् = शंका योग्य, सन्दिग्ध, भीतम् = भययुक्त, उद्‌घुष्टम् = उच्चध्वनियुक्त,, विषमस्वर, अव्यक्तम् = अस्पष्ट, अनुनासिकम् = अनुनासिक, काकस्वरम् = कौवे के स्वर के समान, कर्कश, परुष, कठोर, उद्‌घुष्ट = उद्‌घोष किया हुआ, शोर, घोष, शिरसिगम् = अनावश्यक रूप से मूर्धा से उच्चारण, स्थानविवर्जितम् = उचित स्थान को—स्वाभाविक स्थान को छोड़कर। उपांशु = मन्दस्वर से, कानाफूसी, चुपके से, दष्टम् = काटा गया, सन्दष्ट अर्थात् दन्तपीडित, त्वरितम् = अत्यन्त शीघ्रता से, निरस्तम् = अस्वीकृत, इन्कार, द्रुतोच्चारण, छोड देना, निष्ठुर, विलम्बितम् = देरी, गद्‌गदितम् = अस्पष्ट, हकलाना या उलट-पुलट भाषण, प्रगीतम् = गाने की तरह, निष्पीडितम् = पीडित, उच्चारण स्थान का अनावश्यक संकोच करना, ग्रस्तपदाक्षरम् = ग्रस्त हो गया है पद और अक्षर जिनमें अर्थात् बीच-बीच में पद या अक्षर को व्यक्त किये बिना ही, वदेत् न = न बोले, उच्चारण नहीं करना चाहिए। दीनम् = दीनता से, उत्साहरहित होकर, उच्चारण करना, सानुनास्यम् = नाकसहित, नाक से (नासा से)।

हिन्दी—सन्दिग्ध, भययुक्त, उच्चध्वनियुक्त, अस्पष्ट, निरनुनासिक का भी अनुनासिक, कठोर, मूर्धायुक्त तथा अस्वाभाविक (अनुचित वर्णोच्चारण न करें)॥ ३४॥

मन्दस्वर से (चुपके), दन्तपीडित, अत्यन्त शीघ्रता से, निरस्त, विलम्बित, गद्‌गद स्वर से (हकलाहट-से), गाने की तरह, पीडित, पद या अक्षर को व्यक्त किये बिना ही, उत्साहरहित होकर नाक से वर्णों का उच्चारण न करें॥ ३५॥

व्याख्या—उच्चारण के क्रम में उच्चारणकर्ता को उपर्युक्त दोषों से बचने की आवश्यकता है।

१, सन्दिग्ध, २. भययुक्त, ३. उच्चारणध्वनियुक्त, ४. अस्पष्ट, ५. अनुनासिक, ६. कर्कश, ७. मूर्धायुक्त, ८. अस्वाभाविक, ९. मन्दस्वर, १०. दन्त-

पीडित, ११. शीघ्रता, १२. निरस्त, १३. निलम्बित, १४. हकलाहट, १५. प्रगति, १६. पीडित, १७. पदाक्षर को ग्रस्त करके, १८. अनुत्साहित होकर, १९. नाक से वर्णोच्चारण का निषेध किया गया है। 'अव्यक्तम्' (ग्रस्तपदाक्षरम् जैसे एकार्थी शब्दों की पुनरावृत्ति-उपर्युक्त गुण-दोषों के उपादान-हान पर बल देने के लिए की गई है ॥ ३५ ॥

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन ॥३६॥

अन्वय—प्रातः उरःस्थितेन शार्दूलरुतोपमेन स्वरेण, मध्यन्दिने कण्ठगतेन चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन च नित्यम् एव पठेत् ।

शब्दार्थ--प्रातः = प्रातःकाल में, पठेत् = पाठ करे, नित्यम् = नित्य ही, उरःस्थितेन = उरःस्थित, स्वरेण = स्वर से, शार्दूलरुतोपमेन = व्याघ्र ध्वनि के सदृश, रुत = ध्वनि, उपमेन = सदृश, मध्यन्दिने = दोपहर में, माध्यन्दिन में, कण्ठगतेन = कण्ठगत (कण्ठस्थित), चक्राह्व = चकोर, संकूजित = कूजन, ध्वनि, सन्निभेन = सदृश, च + एव = और ही ।

हिन्दी—प्रातः काल में उरःस्थित बाघ के गर्जन के सदृश गम्भीर स्वर से और माध्यन्दिन (दोपहर, मध्यन्दिन) में कण्ठस्थित चकोर की ध्वनि (कूजन) के समान नित्य ही (वर्णों का) पाठ करे ।

अर्थात् प्रातःकाल में हृदयस्थित वर्णों का उच्चारण व्याघ्रध्वनि के समान गम्भीर तथा दोपहर में कण्ठस्थित (कण्ठस्थानीय) वर्णों का उच्चारण चकवे की ध्वनि के समान ही करना चाहिए ॥ ३६ ॥

तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥ ३७ ॥

अन्वय--तृतीयं सवनं तु तारं विद्यात् तत् शिरोगतं मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन सदा प्रयोज्यम् ।

शब्दार्थ— तारम् = उच्चैः, अत्यधिक उच्च, विद्यात् = जानें, सवनम् = काल, तृतीयम् = तृतीयकाल अर्थात् सायंकाल, शिरोगतम् = शिरः स्थित, सदा = हमेशा, तत् + च = और वह, शिरोगत, प्रयोज्यम् = प्रयोग करने योग्य, मयूरहंस-अन्यभृत-स्वराणाम् मयूरहंस, कोकिल के स्वरों के, तुल्येन = समान, नादेन = नाद से, स्वर से, शिरःस्थितेन = शिरः स्थित ।

हिन्दी—तृतीयकाल अर्थात् सायंकाल का स्वर तार जानें अर्थात् मयूर, हंस और कोकिल आदि के स्वरों के समान ही शिरःस्थित स्वर का हमेशा प्रयोग करना चाहिए ।

व्याख्या—जिस तरह प्रातःकाल में हृदयगत ध्वनि का व्याघ्रध्वनि के समान, माध्यन्दिन में कण्ठगत ध्वनि का चकवे की ध्वनि के समान उच्चारण किया जाता है, उसी तरह सायंकाल में (तृतीय सवन में, सन्ध्याकालीन कर्म में) मूर्धावस्थित (शिरोगत) स्वर को मयूर, हंस और कोयल की ध्वनि के समान (वर्णों का) उच्चारण करना चाहिए ।

तात्पर्य यह कि मूर्धास्थानीय वर्णों का उच्चारण सायंकाल में तार अर्थात् उच्चस्वर से होना चाहिए । यह तारता कैसी होनी चाहिए ? तो उसकी उपमा दी गई—मयूर, हंस और कोकिल के स्वर से अर्थात् जिस तरह मयूर, हंस और कोकिल तार स्वर में कूकता है (टिहुँकता है) उसी तरह मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण करना चाहिए ।

रुद्रप्रसाद अवस्थी ने 'अन्यभृत' के स्थान वर 'अम्बुभृत' पाठ की सम्भावना व्यक्त की है—

"अत्राम्बुभृत इत्यपि पाठः, मेघ इति च तदर्थम् इति ।"

यहाँ मेघ-नाद से भी विरह-पीड़ा की कशिश जान पड़ती है । उसी तरह मयूर तथा कोकिल की केका और कूक भी विरहिणियों की पुरानी टीस है । तात्पर्य यह कि मूर्धन्य वर्णों की ध्वनि भी टीस-जैसी ही हो अर्थात् मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण टीसने जैसा ही हो । टीसने का काल भी सायं ही है । इसीलिए भगवान् पाणिनि ने मूर्धन्य वर्णों के भाग्य में रीसना, टीसना ही लिखा है—'ऋटुरषाणां मूर्धा' ॥ ३७ ॥

अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः ।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ॥३८॥

अन्वय—अचः अस्पृष्टाः यणः तु ईषत् नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः । शेषाः स्पृष्टाः हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ।

शब्दार्थ—अचः = स्वर, अस्पृष्टाः = अस्पृष्ट अर्थात् न स्पृष्टाः, अस्पृष्टाः, स्पर्शों का अभाव रूप विवृत, यणः + तु + ईषत् + नेमस्पृष्टाः यण् (य, व, र, ल), तु = तो, ईषत् = ईषत्स्पृष्ट अर्थात् ईषत्विवृत, शलः = शल् प्रत्याहार के वर्ण (श, ष, स, ह) नेम = अर्द्ध, स्पृष्टाः = स्पृष्ट अर्थात् शल् प्रत्याहार के वर्ण अर्द्धस्पष्ट अर्थात् अर्द्धविवृत के रूप में स्मरण किये जाते हैं । शेषाः = उपर्युक्त सभी वर्णों के बाद बचे हुए, हलः = हल् प्रत्याहार के वर्ण अर्थात् सभी व्यञ्जन वर्ण स्पृष्ट (स्पर्श) कहे गये हैं । उपर्युक्त सभी आभ्यन्तर प्रयत्न के भेद हैं । निबोध + अनुप्रदानतः = बाह्य प्रयत्न के भेदों को जानें अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न के भेदों के कथनोपरान्त बाह्य प्रयत्न के भेदों का व्याख्यान होगा —ऐसा जानना चाहिए ।

हिन्दी—स्वर (अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ) अस्पृष्ट (विवृत), यण् (य, व, र, ल) तो ईषत्स्पृष्ट (ईषत् विवृत) हैं, शल् (श, ष, स, ह) को अर्धस्पृष्ट (अर्धविवृत) जानना चाहिए । शेष हल् (स्पर्श वर्ण, व्यञ्जन वर्ण) स्पृष्ट कहे गये हैं । (इसके बाद) बाह्य प्रयत्नों की दृष्टि से वर्णभेदों को जानें ।

व्याख्या—यहाँ जितने भी प्रत्याहार कहे गये हैं सभी अष्टाध्यायी के हैं, अतः इन प्रत्याहारों से उन्हीं वर्णों का ग्रहण किया जायेगा जिनका अष्टाध्यायी में ग्रहण होता है । नेमस्पृष्टाः में 'नेम' शब्द का अर्थ होता है—'अर्ध', फारसी में ध्वनि एवम् अर्थ की दृष्टि से इसका सदृश शब्द है—नीम, जिसका अर्थ होता है—अर्ध, आधा (नीम हक़ीम ख़तरे जान) । इस तरह आभ्यन्तर प्रयत्न के भेद हुए—

१. अस्पृष्ट अर्थात् विवृत

२. ईषत्स्पृष्ट अर्थात् ईषद्विवृत

३. नेमस्पृष्ट अर्थात् अर्धस्पृष्ट अर्थात् अर्ध विवृत

४. स्पृष्ट ॥ ३८ ॥

ञमोऽनुनासिका न ह्रौ नादिनो हझषः स्मृताः ।

ईषन्नादा यणो जशः श्वासिनस्तु खफादयः ॥ ३९ ॥

अन्वय—ञमः अनुनासिकाः, न ह्रौ, नादिनः हझषः स्मृताः । यणः जशः ईषन्नादाः, श्वासिनः तु खफादयः ।

शब्दार्थ—ञमः + अनुनासिकाः = ञम् प्रत्याहार के वर्ण (ञ, म, ङ, ण, न) अनुनासिक हैं ह्रौ = हकाररेफौ अर्थात् हकार और रेफ, न = अर्थात् नहीं हैं (अनुनासिक नहीं हैं) । नादिनः = नाद, हझषः = ह, झ, ष वर्ण, स्मृताः = कहे गये हैं, यणः जशः = यण् प्रत्याहार के वर्ण (य व र ल) तथा जश् (ज ब ग ड द) वर्ण ईषन्नाद (ईषत् नाद्) हैं, तु = तो, खफादयः = ख, फ आदि, श्वासिनः = श्वास प्रयत्न वाले, तु = तो

हिन्दी—ञम् अनुनासिक तथा हकार, रेफ निरनुनासिक हैं । ह, झ, ष नाद प्रयत्न वाले हैं । यण्, जश् ईषन्नाद हैं तथा खफादि श्वास प्रयत्न वाले हैं ।

व्याख्या—यहाँ हकार, झकार और षकार को नाद कहते हैं । नाद का उपलक्षण संवार और घोष से है और ह-झ-ष तीनों वर्ण नाद, संवार और घोष प्रयत्न वाले हैं । यण् तथा जश् को ईषन्नाद अर्थात् ईषत् संवार, घोष से युक्त कहा गया है । खफादि से अभिप्राय है—ख, फ, छ, ठ, थ द्वितीय वर्ण । इन्हें श्वास (विवार और अघोष से युक्त) कहना चाहिए ॥ ३९ ॥

ईषच्छ्वासांश्चरो विद्याद् गोर्धामैतत्प्रचक्षते ।

दाक्षीपुत्रपाणिनिना येनेदं व्यापितं भुवि ॥ ४० ॥

अन्वय—चरः ईषच्छ्वासान् विद्यात् एतत् गोः धाम प्रचक्षते । येन दाक्षीपुत्रपाणिनिना इदं भुवि व्यापितम् ।

शब्दार्थ—ईषत् + श्वासान् + चरः = चर् प्रत्याहार के वर्णों (च ट त क प श ष स) को ईषत् श्वास वाला, विद्यात् = जानें। गोः + धाम + एतद् + प्रचक्षते = एतत् = यह शास्त्र (पाणिनीय शिक्षा), गोः = वाणी का, धाम = स्थान, प्रचक्षते = कहा जाता है। दाक्षीपुत्रपाणिनिना = दाक्षी नामक माता के पुत्र पाणिनि के द्वारा, येन + इदम् = जिससे यह शास्त्र (पाणिनीय शिक्षा), भुवि = संसार में, व्यापितम् = व्याप्त किया गया, फैलाया गया।

हिन्दी—चर् को ईषत् + श्वास (ईषच्छ्वास) कहते हैं। यह शास्त्र (पाणिनीय शिक्षा) वाणी का स्थान कहलाता है। जिसे दाक्षीपुत्र पाणिनि ने इस शास्त्र को संसार में फैलाया।

व्याख्या—इस श्लोक में पाणिनीय शिक्षा (शास्त्र) का माहात्म्य दिखलाया गया है। विद्वान् लोग इस शास्त्र को गो अर्थात् वाणी का धाम अर्थात् स्थान कहते हैं। तात्पर्य यह कि इस पाणिनीय शिक्षा को विद्वान् लोग (वर्णतत्त्ववेत्ता) शब्दों का स्थान (अकार) कहते हैं जो शास्त्र दाक्षीपुत्र पाणिनि के द्वारा रचा गया और संसार में फैलाया गया। सचमुच ध्वनिविज्ञान का यह मूल शास्त्र है जिसमें मनुष्य की उच्चरित ध्वनि का विविध पक्ष उजागर है ॥ ४० ॥

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ ४१ ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४२ ॥

अन्वय—वेदस्य पादौ तु छन्दः हस्तौ कल्पः अथ पठ्यते (वेदस्य) चक्षुः ज्योतिषामयनं श्रोत्रं निरुक्त उच्यते। वेदस्य घ्राणं शिक्षा तु मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गं (वेदम्) अधीत्य एव (मनुष्यः) ब्रह्मलोके महीयते।

शब्दार्थ—छन्दः = छन्दः शास्त्र, पादौ = दोनों पैर, तु = तो, और, हस्तौ = दोनों हाथ, कल्पः = कल्पसूत्र, अथ = इसके बाद, पठ्यते = पढ़ा जाता है,

ज्योतिषामयनम् = ज्योतिष शास्त्र, चक्षुः = नेत्र, निरुक्तम् = निरुक्त (यास्क प्रणीत), श्रोत्रम् + उच्यते = कर्णविवर कहा जाता है। शिक्षा = पाणिनीय शिक्षा आदि शिक्षाएँ, घ्राणम् = नासिकाविवर, मुखम् = मुख रूपी अवयव, व्याकरणम् = व्याकरणशास्त्र, स्मृतम् = जानना चाहिए, तस्मात् = इसीलिए, साङ्गम् = अङ्गसहित, षडङ्गसहित, वेदों को अधीत्य = पढ़कर, एव = ही, ब्रह्मलोके = ब्रह्मलोक में, महीयते = पूजित होता है, वेदस्य = वेद पुरुष का।

हिन्दी--वेद (पुरुष) के पाद छन्दः शास्त्र तो हाथ कल्पसूत्र कहलाते हैं। नेत्र ज्योतिषशास्त्र तो कान निरुक्त कहलाते हैं। वेद पुरुष के घ्राण (नाक) शिक्षा शास्त्र तो मुख व्याकरण कहा गया है। इसीलिए षडङ्गसहित वेद को पढ़कर ही (मनुष्य) ब्रह्मलोक में पूजित (सम्मानित) होता है।

व्याख्या—साङ्गम्—अङ्गेन सहितम्। चूँकि वेद के छह अङ्ग हैं, इसीलिए इसे षडङ्ग (वेदाङ्ग) कहा गया है। छह अङ्ग हैं—

१. छन्दःशास्त्र--पिङ्गल मुनि विरचित। पिङ्गल को 'पिङ्गल नाग' भी कहा जाता है।

"**छन्दो गायत्र्यादीनां छन्दसां ज्ञानशास्त्रम्**" अर्थात् गायत्र्यादि छन्दों का ज्ञान कराने वाला शास्त्र 'छन्दः' है।

२. कल्पसूत्र–"**कल्पो–वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्**" अर्थात् वेद में विहित यागों (कर्मों) को क्रम पूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र 'कल्प' है। जिसमें यज्ञ का विधि-विधान निहित है तथा जिसमें यज्ञानुष्ठान एवं धार्मिक संस्कारों के नियम बतलाये गये हैं। चूँकि सूत्रों के रूप में यज्ञ-पद्धति वर्णित है इसीलिए 'कल्पसूत्रम्' भी कहलाता है।

३. ज्योतिषशास्त्र—लगध गर्गादि प्रणीत।

"**ज्योतिषं कालपरिज्ञापनार्थं शास्त्रम्**"—अर्थात् काल का ज्ञान कराने वाला शास्त्र ज्योतिष है।

४. निरुक्त—यास्क प्रणीत।

"निरुक्तं पदविभागमन्त्रार्थदेवतानिरूपणार्थं शास्त्रम्" अर्थात् पद विभाग, मन्त्रार्थ और देवताओं के निरूपण के लिए प्रयुक्त शास्त्र निरुक्त है।

५. शिक्षा—पाणिनिप्रणीत पाणिनीय शिक्षा आदि।

६. व्याकरण—पाणिनिप्रणीत अष्टाध्यायी आदि व्याकरण।

"व्याकरणं च शब्दार्थव्युत्पत्तिकरं शास्त्रम्" अर्थात् शब्द और अर्थ की व्युत्पत्ति करने वाला शास्त्र 'व्याकरण' है।

उपर्युक्त छहों अङ्गों के साथ जो वेद का अध्ययन करता है, अर्थात् गायत्री, जगती आदि छन्दों के साथ, ध्वनि की दृष्टि से, व्याकरण की दृष्टि से वेदों का अध्ययन करना चाहिए। निरुक्त के अनुसार वेद के शब्दों का अर्थ-निर्धारण करना चाहिए। वेद में बहुत सारे ऐसे शब्द भी प्रचलित हैं जिनका सुष्ठु ज्ञान ज्योतिष शास्त्र के अध्ययनोपरान्त ही सम्भव है। इन सभी शास्त्रों के ज्ञान पूर्वक जो वेदों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है वही व्यक्ति सर्वतोभावेन सम्मानित होता है। 'व्याकरण' का स्थान छहों अंगों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शब्दों के स्वरूप की रचना-प्रक्रिया, प्रकृति-प्रत्यय, अर्थ-परिवर्तन की दृष्टि से व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य है ॥ ४२ ॥

उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा।
उपान्तमध्ये स्वरितं धृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥४३॥

अन्वय—वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा उदात्तम् आख्याति। उपान्तमध्ये स्वरितं च कनिष्ठिकायाम् धृतम् अनुदात्तम् एव (आख्याति)।

शब्दार्थ—उदात्तम् = उदात्त स्वर को, आख्याति = कहता है, अर्थात् उच्चारण करता है; वृषोऽङ्गुलीनाम् = अंगुलियों में श्रेष्ठ, वृषः = श्रेष्ठ अर्थात् अंगुष्ठ का, प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा = प्रदेशिनी = तर्जनी, प्रदेशिन्याः मूले अर्थात् तर्जनी के मूल में, निविष्ट = रखकर, मूर्धा = अग्रभाग, उपान्तमध्ये = अन्तस्य समीपम् उपान्तम् अर्थात् अन्तिम जो कनिष्ठिका है उसके बगलवाली 'अनामिका' के मध्य में (वृषोऽङ्गुलीनां निविष्टमूर्धा), स्वरितम् = स्वरित स्वर का उच्चारण करते हैं।

कनिष्ठिकायाम् = कनिष्ठिका के मध्य में, अनुदात्तम् = अनुदात्त स्वर का, एव = ही, यह निश्चयता का वाचक है।

हिन्दी—प्रदेशिनी (तर्जनी) के मूल में अंगुष्ठ का अग्रभाग रखकर उदात्त स्वर का उच्चारण किया जाता है। अनामिका के मध्यभाग में (अंगुष्ठ का अग्रभाग) रखकर स्वरित का तथा कनिष्ठा के मध्यभाग में रख कर अनुदात्त स्वर का उच्चारण किया जाता है।

व्याख्या—रुद्र प्रसाद अवस्थी ने 'धृतम्' के स्थान में पाठान्तर 'द्रुतम्' किया है परन्तु इसके अतिरिक्त सर्वत्र 'धृतम्' का ही पाठ दीखता है। 'द्रुतम्' पाठ की सङ्गति है कि ज्यों ही अनामिका मध्य में अंगुष्ठ के अग्रभाग को रखकर स्वरित का उच्चारण करते हैं कि तुरन्त बाद अनुदात्त का ही उच्चारण करते हैं। तात्पर्य यह कि स्वरित के बाद अनुदात्त का ही उच्चारण करते हैं, उदात्त का नहीं। यह सामवेद में स्वरों के उच्चारण की विशिष्ट विधि कही गयी है।

उदात्तस्वर—'**उच्चैरुदात्तः अर्थात् उच्चैः उच्चारितः उदात्त उच्यते**'। तात्पर्य यह कि ताल्वादि स्थानों के ऊर्ध्व भाग में उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है। स्वरित—'**समाहारः स्वरितः—मध्योच्चारितः स्वरित उच्यते**' अर्थात् मध्य भाग में उच्चारित स्वर स्वरित कहलाता है। अनुदात्त—'**नीचैरनुदात्तः नीचैरुच्चारितोऽनुदात्त उच्यते**' अर्थात् ताल्वादि स्थानों के निम्न भाग से उच्चारित स्वर अनुदात्त कहलाता है।

उपर्युक्त स्वरों का सामवेद में गायन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। जब स्वर आरोह से अवरोह की ओर उतरता है तो मध्य में स्वरित आता है। स्वरित से सीधे आरोह न होकर अवरोह अर्थात् अनुदात्त तक पहुँच कर तब उदात्त की ओर उठता है। यह अलग बात है कि स्वर आरोह से अवरोह की ओर किस गति से उतरता है—यह प्रसंग और रस पर निर्भर करता है।

यहाँ का 'एव' पाठ भी इसी तथ्य पर बल देता है—

"**कनिष्ठिकायाः मध्ये निविष्टमूर्धाऽङ्गुष्ठः अनुदात्तम् एव आख्याति, नान्यस्वरम् इति।**" इसी तथ्य (अर्थ) को अगली शिक्षा में पुनः पुष्ट करते हैं ॥ ४३ ॥

उदात्तं प्रदेशिनीं विद्यात् प्रचयं मध्यतोऽङ्गुलिम् ।
निहतं तु कनिष्ठिक्या स्वरितोपकनिष्ठिकाम् ॥४४॥

अन्वय—उदात्तं प्रदेशिनीं प्रचयं मध्यतः अङ्गुलम् निहतं तु कनिष्ठिक्यां स्वरितम् उपकनिष्ठिकाम् विद्यात् ।

शब्दार्थ—विद्यात् = जानें, मध्यतः = मध्यमा अङ्गुलि को, निहतम् = अनुदात्त को, उपकनिष्ठिकाम् = कनिष्ठिकायाः समीपम् उपकनिष्ठिका, तम् अर्थात् कनिष्ठा के समीप वाली अनामिका को,

हिन्दी—उदात्त को तर्जन्याश्रित, प्रचय को मध्यमाश्रित, अनुदात्त को कनिष्ठिकाश्रित तथा स्वरित को अनामिकाश्रित जानना चाहिए ।

व्याख्या—अङ्गुलियाँ पाँच हैं—अङ्गुष्ठ, तर्जनी (प्रदेशिनी), मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका । अंगुष्ठ का अग्रभाग तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका के मध्य में रखकर उपर्युक्त चार स्वरों का उच्चारण किया जाता है ।

(क) **तर्जनी**—उदात्त (Acute), यह शब्द 'उत्' तथा 'आ' पूर्वक 'दा' धातु से 'क्त' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है इसका शाब्दिक अर्थ है—'ऊपर उठाकर ग्रहण किया हुआ ।'' **'उच्चैरादीयते इति उदात्तः'** अर्थात् उच्च स्वर से जिसका ग्रहण = उच्चारण होता है वह 'उदात्त' है ।

(ख) **मध्यमा**--प्रचय (Accumulation) यह स्वर मूलतः अनुदात्त होता है । 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में 'प्रचय' को स्वर माना गया है ।[1] जब पूर्ववर्ती 'स्वरित' स्वर के प्रभाव से अनुदात्त, अनुदात्त के समान उच्चारित न होकर, 'उदात्त' के समान उच्चारित होने लगता है तब वह 'प्रचय' कहलाता है । अतः 'प्रचय' कोई स्वतन्त्र स्वर (accent) नहीं है ।[2]

'प्रचय' शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'चि' धातु से निष्पन्न हुआ है । 'प्रचय' का अर्थ है—'आधिक्य' । पूर्व में स्वरित होने पर अनुदात्त 'प्रचय' हो जाता है ।

---

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्य (एक परिशीलन), पृ० २३० ।

२. वही, पृ० २३० ।

किन्तु ध्यातव्य है कि पूर्ववर्ती 'उदात्त' के कारण एक ही अनुदात्त स्वरित होता है, जबकि पूर्ववर्ती स्वरित के कारण एक से अधिक 'अनुदात्त' भी 'प्रचय' हो जाते हैं। अधिक अनुदात्तों के 'प्रचय' हो जाने को दृष्टि में रखकर ही 'प्रचय' संज्ञा का आविर्भाव हुआ है।

इसे दूसरे ढंग से भी कह सकते हैं—जब पूर्ववर्ती 'स्वरित' के प्रभाव से 'अनुदात्त' विशिष्ट 'अक्षर' 'प्रचय' हो जाता है तब वह उदात्त के समान उच्चारित होने लगता है। नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाला 'अक्षर' अब ऊँची ध्वनि से उच्चारित होने लगता है। ध्वनि के इस आधिक्य के कारण अनुदात्त स्वर 'प्रचय' कहलाने लगता है।[1] 'प्रचय' के लिए अनेक नामों का उल्लेख मिलता है—प्रचित, प्रच, तान, निचित, उदात्तमय, उदात्तश्रुति, एकस्वर, एकश्रुति आदि—**"अयमेव प्रचयः प्रचितः प्रचो निचित उदात्तमय इति वैदिकैर्व्यवह्रियते।"**[2]

(ग) **कनिष्ठिका**—अनुदात्त (grave)—अनुदात्त शब्द 'अन्', 'उत्' तथा 'आ' पूर्वक 'दा' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। अनुदात्त का शाब्दिक अर्थ है—'ऊपर उठाकर न ग्रहण किया हुआ। **'नीचैरादीयते इत्यनुदात्तः'** अर्थात् उच्चारणावयवों के नीचे जाने से जिस स्वर का ग्रहण होता है (उच्चारण होता है) वह 'अनुदात्त' कहलाता है।[3]

(घ) **अनामिका**—स्वरित (Circumflex)—स्वरित शब्द ध्वनि करना अर्थ वाली 'स्वृ' धातु से निष्पन्न है। 'स्वरित' का शाब्दिक अर्थ है—ध्वनित या उच्चारित। **"स्वरः संजातः यस्मिन् सः स्वरितः"** अर्थात् स्वर उत्पन्न किया जाता है जिसमें वह स्वरित होता है। अभिप्राय यह कि स्वरित उदात्त और अनुदात्त के मेल से बनता है। इस मेल के कारण अनुदात्त स्वर भी उदात्त स्वर के समान उच्चारित होने लगता है। उदात्त पूर्व स्वरित स्वभावतः 'अनुदात्त' ही होता है। परन्तु उदात्त के प्रभाव से वह भी उच्च ध्वनि से

---

१. ऋ० प्रा० एक परिशीलन, पृ० २३०।

२. प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा, पृ० २१६।

३. ऋ० प्रा० एक परिशीलन, पृ० २१९।

उच्चारित होने लगता है। इसी विशेषता के कारण वह 'स्वरित' कहलाता है। स्वरित का उच्चारण 'आक्षेप' से होता है और उच्चारणावयवों के तिरछे जाने को 'आक्षेप' कहते हैं – **"आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।"**[1]

चूँकि प्रस्तुत शिक्षा पूर्ववर्ती शिक्षा से मिलती है, इसीलिए यह प्रक्षिप्त-सी प्रतीत होती है। कनिष्ठिक्याम्—कनिष्ठिका में अम् परे रहते अकार को 'या' आदेश तथा 'का' के 'आ' का लोप होकर--**'कनिष्ठिक्याम्'** हुआ है ॥ ४४ ॥

अन्तोदात्तमाद्युदात्तमनुदात्तं नीचस्वरितम्।
मध्योदात्तं स्वरितं द्व्युदात्तं त्र्युदात्तमिति नवपदशय्या ॥४५॥

अन्वय–अन्तोदात्तम् आद्युदात्तम् उदात्तम् अनुदात्तं नीचस्वरितं मध्योदात्तं स्वरितं द्व्युदात्तं त्र्युदात्तम् इति नवपदशय्या।

शब्दार्थ—नवपदशय्या = नौ पदों में स्थिति।

हिन्दी—(उपर्युक्त उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन) स्वरों की नौ स्थितियाँ होती हैं—

१. अन्तोदात्त, २. आद्युदात्त, ३. उदात्त, ४. अनुदात्त, ५. नीचस्वरित, ६. मध्योदात्त, ७, स्वरित, ८. द्व्युदात्त और ९. त्र्युदात्त।

व्याख्या—स्वर की दृष्टि से पद मुख्यतया तीन प्रकार के हैं—१. एकोदात्त पद, २. बहूदात्त पद और ३. सर्वानुदात्त पद।

सामान्य नियम है कि—"अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"[2] अर्थात् जिन पदों में एक वर्ण उदात्त होता है, उन पदों को एकोदात्त पद कहते हैं। जब तक किसी अवस्था या नियम का विशेष रूप से उल्लेख न किया गया हो, तब तक प्रायः प्रत्येक पद 'एकोदात्त' ही होता है।[3] एकोदात्त पद चार रूपों में विभक्त है—

१. आद्युदात्त पद, २. मध्योदात्त पद, ३. अन्तोदात्त और ४. उदात्त पद।

---

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्यम् ३/१।

२. अष्टा० ६.१.१५८

३. वैदिक स्वर बोध, पृ० २४

१. आद्युदात्त—जिस पद का आदि वर्ण उदात्त होता है; यथा—'इन्द्रः' होता आदि ।

२. मध्योदात्त—जिस पद का मध्य वर्ण उदात्त होता है; यथा—अग्निना ।

३. अन्तोदात्त—जिसका अन्तिम वर्ण उदात्त हो; यथा—अग्निः, जनिता आदि ।

४. उदात्त—जो पद एकवर्णी हो और वह भी उदात्त ही हो तो वह उदात्त ही कहलाता है; यथा—यः, नु, कः आदि ।

सामान्यतः प्रत्येक पद में एक वर्ण उदात्त धर्म वाला होता है लेकिन कुछ पद ऐसे भी होते हैं जिनमें एक से अधिक वर्ण उदात्त होते हैं । ऐसे पदों को 'बहूदात्त' पद कहते हैं । बहूदात्त पद के दो प्रकार हैं—१. द्व्युदात्त और २. त्र्युदात्त ।

(१) द्व्युदात्त—वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कहा गया है—"देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि" तथा पाणिनि ने कहा है—"देवता द्वन्द्वे च"[1] अर्थात् देवता द्वन्द्व समास वाले पद यदि सम्बोधन में न हों तो कुछ अपवादों को छोड़ कर 'द्व्युदात्त' होते हैं, यथा—मित्रावरुणा, इन्द्रवरुणौ आदि ।[2]

(२) त्र्युदात्त—द्व्युदात्त पदों के साथ देवता द्वन्द्व समास होने पर तीन वर्ण उदात्त होते हैं; यथा—इन्द्राबृहस्पती । इसका उल्लेख वाजसनेयि प्रातिशाख्य में हुआ है—

इन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राबृहस्पती इति त्रीणि ।[3]

स्वरित—स्वरित मध्यम स्वर कहलाता है । पाणिनि ने "समाहारः स्वरितः"[4] सूत्र द्वारा स्वरित को उदात्त और अनुदात्त का समाहार माना है । स्वरित मुख्यतः दो प्रकार के हैं—(१) सामान्य स्वरित और (२) स्वतन्त्र स्वरित । पाणिनि ने कहा है—"उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"[5] अर्थात् उदात्त के

---

१. अष्टा० ६–२–१४१.
२. वैदिक स्वरबोध, पृ० २५.
३. वही „ „ पृ० २६.
४. अष्टा० १–२–३१.
५. अष्टा० ८–४–६३.

बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित के रूप में बदल जाता है। इसी स्वरित को **"सामान्य स्वरित"** कहते हैं। इसका स्वरितत्व पूर्ववर्ती उदात्त पर निर्भर करता है; इसीलिए इसे **"आश्रित स्वरित"** (Dependent Svarita) भी कहते हैं।[1]

स्वतन्त्र स्वरित (Independent Svarita)—यह सामान्य स्वरित से भिन्न है। जिस प्रकार एक पद में एक ही स्वरित होता है। यह स्वरित उदात्त के ही स्वर का होता है। जिस प्रकार उदात्त कभी अनुदात्त पूर्व या कभी अपूर्व होता है; उसी प्रकार स्वतन्त्र स्वरित भी अनुदात्तपूर्व या अपूर्व होता है। स्वतन्त्र स्वरित के चार भेद हैं—**जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट।**

५. **नीचस्वरित**—स्वतन्त्र स्वरित के भेदों (जात्य आदि) में से किसी के भी बाद उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आवे तो वहाँ स्वरित का उत्तरवर्ती अनुदात्तांश एकश्रुति न होकर अणुमात्रा काल के लिए निहित होता है। इस निहताणुक स्वर को—**"नीचस्वरित"** कहते हैं। इसके उच्चारण में एक कम्पन होती है, जिसे **'कम्प'** (Jerk) कहते हैं।[2] यही बात शौनक ने भी कही है—

> **जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।**
> **एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥**[3]

अनुदात्त—अनुदात्त नीचस्वर माना जाता है। **'नीचैरनुदात्तः'** अर्थात् नीच स्वर से ही अनुदात्त का उच्चारण बतलाया गया है और नीच स्वर का कारण बतलाया गया है—'गात्रों की शिथिलता, स्वर की स्निग्धता तथा कण्ठ-विवर की स्थूलता'—

> **"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि।"**[4]

महाभाष्यकार ने वर्णों के उच्चारण-स्थान के निम्न भाग से उच्चारण होने को **'अनुदात्त'** कहा है—

---

१. वैदिक स्वर बोध, पृ० ८.
२. वैदिक स्वरबोध, पृ० १०.
३. ऋग्वेद प्रातिशाख्य—३।३४.
४. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—२२।१०.

एकस्मिन्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते..........अधरभाग-निष्पन्नोऽनुदात्तः।"[१]

'अनुदात्त' का अर्थ है—न उदात्त अर्थात् जो उदात्त न हो। चूँकि यह नीच स्वर है इसीलिए इसे **'नीच स्वर'** के नाम से पुकारा भी जाता है। यह अनुदात्त हमेशा उदात्त से पूर्व ही आता है। अनुदात्त से भी निम्न स्वर 'अनुदात्ततर' कहलाता है। पाणिनि ने इसी 'अनुदात्ततर' को 'सन्नतर' कहा है—"उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः।"[२]

'नारदीय शिक्षा' में अनुदात्त को 'निघात' कहा गया है।

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा।
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चधा॥[३]

'निघात' को अनुदात्ततर या सन्नतर का पर्याय माना गया है। आचार्य पाणिनि ने अन्तोदात्तादि का उदाहरण अगली शिक्षा में उपस्थित किया है।

अग्निः सोमः प्र वो वीर्यं हविषां स्वर्बृहस्पतिरिन्द्राबृहस्पती।
अग्निरित्यन्तोदात्तं सोम इत्याद्युदात्तम्।
प्रेत्युदात्तं व इत्यनुदात्तं वीर्यं नीचस्वरितम्॥ ४६॥

हविषां मध्योदात्तं स्वरिति स्वरितम्।
बृहस्पतिरिति द्व्युदात्तमिन्द्राबृहस्पती इति त्र्युदात्तम्॥४७॥

अन्वय—अग्निः सोमः प्र वः वीर्यं हविषां स्वः बृहस्पतिः इन्द्राबृहस्पती अग्निः इति अन्तोदात्तं सोमः इति आद्युदात्तम् प्र इति उदात्तं वः इति अनुदात्तं वीर्यं नीचस्वरितं हविषां मध्योदात्तं स्वः इति स्वरितम् बृहस्पतिः इति द्व्युदात्तम् इन्द्राबृहस्पती इति त्र्युदात्तम्।

---

१. कैय्यट, प्रदीप–१–२–२९–३०.

२. अष्टा० १–२–४०.

३. नारदीय शिक्षा–१–७–१९.

शब्दार्थ—अग्निः इति अन्तोदात्तम् = अग्नि अन्तोदात्त है, सोमः इति आद्युदात्तम् = सोम आद्युदात्त है, प्र इति उदात्तम् = प्र उदात्त है, वः इति अनुदात्तम् = व अनुदात्त है, वीर्य्यंम् नीचस्वरितम् = वीर्य्यं नीच स्वरित है, हविषां मध्योदात्तम् = हविषाम् का मध्य 'व' उदात्त है, स्वः इति स्वरितम् = स्वः स्वरित है, बृहस्पतिः इति द्व्युदात्तम् = बृहस्पति द्व्युदात्त है, इन्द्राबृहस्पती = यह त्र्युदात्त है।

हिन्दी—अग्निः[१] सोमः[२] प्र[३] वः[४] वीर्य्यं[५] हविषां[६] स्वः[७] बृहस्पतिः[८] इन्द्राबृहस्पती[९] (कुल ९ शब्द हैं जो क्रमशः अन्तोदात्तादि के हैं) में

अग्निः—अन्तोदात्त (अग्निरित्यन्तोदात्तम्)

सोमः—आद्युदात्त (इसमें आदि 'ओ' उदात्त है)

प्र—उदात्त (यह निपात उदात्त है)—प्रेत्युदात्तम्।

वः—अनुदात्त (वः इत्यनुदात्तम्)।

वीर्य्यम्—नीच स्वरित (वीर्यं नीचस्वरितम्)

हविषाम्—मध्य 'वि' उदात्त है (हविषां मध्योदात्तम्)

स्वर्—स्वरित (स्वरिति स्वरितम्)।

बृहस्पतिः—द्व्युदात्त (बृहस्पतिरिति द्व्युदात्तम्)।

इन्द्राबृहस्पती—त्र्युदात्त (इन्द्राबृहस्पती इति त्र्युदात्तम्) है।

व्याख्या—'अग्निः' इस पद में **'फिषोऽन्त उदात्तः'** इस फिट् सूत्र से भी अन्तिम वर्ण उदात्त होता है अथवा **"घृतादीनां च"** इस फिट् सूत्र से भी अन्त उदात्त होता है।

सोमः—यहाँ **"वृषादीनां च"**[१] सूत्र से आदि उदात्त हुआ है।

प्र—एक ही स्वर से युक्त होने के कारण इसका सर्वोदात्तत्व स्पष्ट है।

---

१. अष्टा० ६-१-२०३.

व॒ः— यहाँ "अनुदात्तं सर्वमपापादौ"[१] से अनुदात्त है। वीर्य्यम्—यहाँ "बिल्वभक्ष्यवीर्याणि छन्दसि"[२] फिट् सूत्र से अन्त स्वरित अर्थात् नीचस्वरित हुआ है।

हविषाम्—(हविस्–आम्) यहाँ फिट् सूत्र 'फिषोऽन्तः उदात्तः'[३] से हविस् का अन्त उदात्त (अन्तोदात्त) हुआ लेकिन आम् विभक्ति परे रहते "अनुदात्तौ सुप्पितौ"[४] सूत्र से अनुदात्त तथा "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"[५] से स्वरित हो जाता है। इस प्रकार 'हविषाम्' के 'इ' के उदात्तत्व होने के कारण यह मध्योदात्त है।

स्वः—यहाँ "न्यङ्स्वरौ स्वरितौ"[६] इस फिट् सूत्र से 'स्वर्' स्वरित है।

बृहस्पति॒ः—यहाँ "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्"[७] सूत्र से 'बृह॒स्पति॒ः' इन दोनों पदों का आदि स्वर उदात्त है। अतः 'बृ' और 'प' दो वर्ण उदात्त होने से यह द्व्युदात्त पद है।

इन्द्रा॒बृहस्पती'—यहाँ 'देवता द्वन्द्वे च'[८] सूत्र से यह त्र्युदात्त है क्योंकि 'इन्द्र' पद का इकार, बृहस्पति पद का ऋकार तथा पकारोत्तरवर्ती अकार के उदात्त होने से 'त्र्युदात्त' हुआ ॥ ४७ ॥

अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥ ४८ ॥

अन्वय—हृदि अनुदात्तः ज्ञेयः मूर्ध्नि उदात्तः उदाहृतः। कर्णमूलीयः स्वरितः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः।

शब्दार्थ—हृदि=हृदय में, ज्ञेयः=जानना चाहिए, मूर्ध्नि=मूर्धा में, उदाहृतः=उच्चारण करना चाहिए, कर्णमूलीयः=कर्णमूल में, सर्वास्ये=सभी मुख के पास रखकर, प्रचयः=प्रचय स्वर, स्मृतः=उच्चारण करना चाहिए।

---

१. अष्टा० ८-१-१८.
२. फिट् सूत्र ७७.
३. फिट् सूत्र ०१.
४. अष्टा० ३-१-४.
५. अष्टा० ८-४-६६.
६. फिट् सूत्र ७४.
७. अष्टा० ६-२-१४०.
८. अष्टा० ६-२-१४१.

हिन्दी—हृदय पर हाथ रखकर अनुदात्त, मूर्धा पर उदात्त, कर्णमूल में स्वरित तथा सभी के मुख पर हाथ रखकर प्रचय का उच्चारण करना चाहिए।

व्याख्या—उदात्तादि स्वरों का उच्चारण हस्तसंचालन पूर्वक कैसे किया जाता है, इसी का इस शिक्षा में वर्णन हुआ है। अनुदात्त के उच्चारण में हाथ को हृदय के पास रखना चाहिए, उदात्त के उच्चारण में मूर्धा (सिर) के पास, स्वरित के उच्चारण में कर्णमूल के पास और प्रचय के उच्चारण में मुख के पास (नाक के अग्रभाग में)। ऐसा इसलिए होता है कि अनुदात्त आदि के स्थान क्रम से हृदय आदि हैं। जो उपर्युक्त पद्धति से हस्तसञ्चालन पूर्वक ऋग्यजुः-साम का पाठ नहीं करता, स्वर वर्ण का यथोचित उच्चारण नहीं करता, वह सचमुच नीच योनियों में जन्म लेता है और जो इनका हस्तसञ्चालन पूर्वक स्वर वर्ण अर्थ-ज्ञान पूर्वक पाठ करता है; वह ब्रह्मलोक में जाता है ॥ ४८ ॥

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं चैव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्द्धमात्रकम् ॥ ४९ ॥

अन्वय—चाषः तु मात्रां वदते च वायसः द्विमात्रम् एव। शिखी तु त्रिमात्रं रौति नकुलः तु अर्द्धमात्रकम्।

शब्दार्थ—चाषः = नीलकण्ठ, वदते = बोलता है, मात्राम् = एक मात्रा (ह्रस्व मात्रा) को, वायसः = कौवा, द्विमात्रम् = द्विमात्रा अर्थात् दीर्घ अक्षर को, शिखी = मयूर, (शिखा वाला), रौति = बोलता है, उच्चारण करता है, त्रिमात्रम् = तीन मात्रा अर्थात् प्लुत को, नकुलः = नकुल, अर्द्धमात्रकम् = आधी मात्रा को।

हिन्दी—नीलकण्ठ ह्रस्वमात्रा (एकमात्रा) बोलता है, कौवा दो मात्रा (दीर्घमात्रा) मयूर तीन मात्रा (प्लुत) तथा नकुल (नेवला) अर्द्धमात्रा का उच्चारण करता है।

व्याख्या—डॉ॰ त्रिपाठी ने कहा है कि नीलकण्ठ की ध्वनि एकमात्रिक, कौवे की द्विमात्रिक, मोर की त्रिमात्रिक तथा नेवले की अर्धमात्रिक होती है। इससे

पता चलता है कि प्राचीन शिक्षाशास्त्री मानवध्वनि के साथ पशुपक्षी की ध्वनियों का भी विश्लेषण करते थे। षड्ज आदि सप्तविध स्वरों की उपमा भी विभिन्न प्राणियों की ध्वनियों से दी गई है।[1]

पं० रुद्रप्रसाद अवस्थी ने भी कहा है कि—

"एवं च मात्राद्युच्चारणं चाषादिभ्यः शिक्षणीयम् इति।"

कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम्।
न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्विषात्॥ ५०॥

अन्वय—कुतीर्थात् आगतं, दग्धम्, अपवर्णं च भक्षितम् तस्य पाठे मोक्षः न अस्ति किल्विषात् पापाहेः इव।

शब्दार्थ— कुतीर्थात् = कुतीर्थ अर्थात् कुत्सित गुरु से, आगतम् = आया हुआ, शिक्षित, तीर्थात् = गुरोः गुरु से, दग्धम् = जले हुए अर्थात् नीरस की तरह, अपवर्णम् = अपकृष्ट अर्थवाला, भक्षितम् = गुरु से बिना पढ़ा हुआ, च = इव, पापाहेः = दुष्ट सर्प से, इव = तरह, किल्विषात् = पाप से, मोक्षः = मोक्ष, अस्ति = है, तस्य पाठे = उसके पाठ में।

हिन्दी – कुत्सित गुरु (आचारहीन गुरु) से प्राप्त (शिक्षित), दग्ध अर्थात् नीरस तथा अपकृष्ट अर्थवाले अनधीत वेदों (तस्य) का पाठ करने पर पाप से उसी तरह मोक्ष (मुक्ति) नहीं होता है, जिस प्रकार दुष्ट सर्प से (आक्रान्त होनेपर) व्यक्ति को उससे मोक्ष नहीं मिलता।

व्याख्या—अशिष्ट अध्यापक से पढ़े हुए दोषपूर्ण पाठ की निन्दा की गयी है। यहाँ 'च' 'इव' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार दुष्ट सर्प को छेड़ने पर मुक्ति नहीं मिलती। उसका छेड़ना दंशन को निमन्त्रण देना है और दंशन के बाद जीवन की आशा नहीं। उसी प्रकार कुत्सित आचार्य से अधीत पाठ भी अध्येता का कभी कल्याण नहीं करता। क्योंकि कुत्सित आचार्य स्वयं मन्त्रों का

१. भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि—पृ० ९८.

पाठ सम्यक् रूप से नहीं जानता है तो फिर अपने शिष्य को क्या सिखायेगा। मन्त्रों के गलत पाठ और गलत अर्थ से यजमान का नाश अवश्यम्भावी है। क्योंकि यह तो प्रभुसम्मित उपदेश है। शुद्ध पाठ और अर्थ के ज्ञान से लाभ हो या न हो, लेकिन अशुद्ध पाठ एवम् अर्थज्ञान से पाठक का सर्वनाश निश्चित है। जिस तरह दुष्ट सर्प बिना छेड़े डस भी सकता है और नहीं भी, लेकिन छेड़ने के बाद वह छोड़ने वाला भी नहीं है, दंशन करेगा ही क्योंकि दूसरों को कष्ट देना दुष्टों को अच्छा लगता है। बिना कारण सताना उसे थोड़ी देर के लिए रोक सकता है लेकिन कारण सामने आने पर उसे बरजना बेहद मुश्किल है।। ५० ।।

सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नाय्यं सुव्यवस्थितम् ।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते ।। ५१ ।।

अन्वय सुतीर्थात् आगतं व्यक्तं स्वाम्नाय्यं, सुव्यवस्थितम् सुवक्त्रेण सुस्वरेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते।

शब्दार्थ - सुतीर्थात्=सदाचारसम्पन्न आचार्य से, आगतम्=अधीत, सम्प्राप्त शास्त्र, व्यक्तम्=सुस्पष्ट, स्वाम्नाय्यम्=सम्प्रदाय शुद्ध, साङ्गोपाङ्ग वेद, सुव्यवस्थितम्=सुव्यवस्थित, सुस्वरेण=सुस्वर, सुवक्त्रेण=सुकण्ठ से, प्रयुक्तम्=उच्चारित, ब्रह्म=वेद, राजते=सुशोभित होता है।

हिन्दी—सदाचारसम्पन्न आचार्य से अधीत शास्त्र सुव्यक्त, सम्प्रदाय शुद्ध और सुव्यवस्थित होता है। इस प्रकार सुकण्ठ से सुस्वर उच्चारण किये जाने पर ब्रह्म (वेद) शोभित होता है।

व्याख्या—यहाँ 'व्यक्तम्' से अभिप्राय है—'स्पष्टतयोच्चारितम्' अर्थात् स्पष्टतया उच्चारित वेद से। 'सुस्वरेण' का तात्पर्य है—उदात्त आदि स्वरों से, सुवक्त्रेण=कण्ठ आदि स्थानों से, 'प्रयुक्तम्' से अभिप्राय है—'उच्चारित' से, राजृदीप्तौ धातु से राजते बना है जिसका अर्थ होता है सुशोभित होना। 'सुतीर्थ' का अर्थ 'अच्छा गुरु' होता है। स्वाम्नाय्यम्=सु + आम्नाय्यम् [illegible] साङ्गोपाङ्ग वेद को 'स्वाम्नाय्य' कहते हैं।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ ५२ ॥

अन्वय—स्वरतः वर्णतः वा हीनः मन्त्रः मिथ्याप्रयुक्तः तम् अर्थम् न आह। स (मन्त्रः) वाक् वज्रः यजमानं हिनस्ति यथा स्वरतोऽपराधात् इन्द्रशत्रुः ।

शब्दार्थ—स्वरतः = स्वर से, वर्णतः = वर्ण से, वा=अथवा, हीनः = रहित, मिथ्याप्रयुक्तः = मिथ्याप्रयुक्त, तम् = उस (अभीप्सित), अर्थम् = अर्थ को, न = नहीं, आह = कहता है, स = वह (मन्त्र), वाग्वज्रः = वाणी रूपी वज्र, यजमानम् = यजमान को, हिनस्ति = नाश करता है, अनिष्ट की प्राप्ति कराता है। यथा + इन्द्रशत्रुः = जिस प्रकार इन्द्रशत्रु, स्वरतः + अपराधात् = स्वर के अपराध से, स्वर-दोष से।

हिन्दी—स्वर से अथवा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्याप्रयुक्त होने के कारण उस अर्थ को नहीं कहता है (जो अभीष्ट होता है)। वह मन्त्र वाणीरूपी वज्र होकर यजमान का नाश (उसी प्रकार) करता है, जिस प्रकार स्वरदोष से युक्त 'इन्द्रशत्रुः' (शब्द)।

व्याख्या—यहाँ 'वा' का अर्थ—'अथवा' या 'और' भी लिया जाता है। इसीलिए कुछ लोगों ने इसका अर्थ किया है—स्वर से और वर्ण से विहीन मन्त्र अभीष्ट अर्थ को प्रदान नहीं करता है। यहाँ 'वा' का अर्थ 'और' लिया जाय तब यह अनिवार्य हो जाता है कि जो मन्त्र अनिष्ट अर्थ का प्रदाता है उसे स्वर तथा वर्ण दोनों से विहीन (दोषयुक्त) होना होगा तथा 'वा' का अर्थ 'अथवा' ग्रहण करने से यह सुविधा होगी कि मन्त्र या तो स्वरदोषयुक्त हो या वर्णदोष-युक्त हो, दोनों ही अवस्थाओं में मन्त्र अभीष्ट अर्थ नहीं दे सकता। स्वरदोष का

उदाहरण 'इन्द्रशत्रुः' शब्द है तथा वर्णदोष का उदाहरण--स्वजन/श्वजन हो सकता है। स्वरदोष के उदाहरण के रूप में "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" प्रसिद्ध है। छोटी-सी आख्यायिका है कि—

त्वष्टा नामक एक असुर के एक पुत्र था। वह त्रिशिरा था। उसकी महती तपस्या से डरकर इन्द्र ने उसे मार डाला। पुत्र-वध से त्वष्टा बहुत ही क्रुद्ध हुआ और इन्द्र का वध करने के लिए 'वृत्र' नामक पुत्र की कामना से उसने एक आभिचारिक यज्ञ किया। उस यज्ञ में ऋत्विजों ने "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इस मन्त्र से हवन किया। 'इन्द्रशत्रु' बढ़े। 'इन्द्रशत्रुः' इस पद में शत्रु शब्द क्रियावाची शब्द है, न कि अमित्र का पर्याय। अमित्र का पर्याय होने पर बहुव्रीहि और तत्पुरुष के भेद से होने वाला अर्थ--भेद नहीं हो सकेगा। 'क्रियावाची' शब्द होने पर 'इन्द्रशत्रुः' का अर्थ होगा—

"इन्द्रस्य शातयिता भव" इस अर्थ के ज्ञान के लिए यहाँ तत्पुरुषसमास ही उचित होगा क्योंकि बहुव्रीहि में—"इन्द्रः शातयिता यस्य" अर्थात् इन्द्र है नाश करने वाला जिसका—यह अर्थ हो जायेगा। इस तरह यहाँ 'शत्रुः' शब्द क्रियावाची है। यहाँ 'मन्त्र' शब्द भी शब्दमात्र ही है क्योंकि मन्त्र का अभाव होने से उसकी असंगति यहाँ स्पष्ट ही है। तभी तो भगवान् पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में 'मन्त्र' शब्द का पाठ न करके 'दुष्टः शब्दः' का पाठ किया है।

"इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" में 'इन्द्र' के आदि 'इ' के उदात्त उच्चारण करने से यह आद्युदात्त होता है तथा जो आद्युदात्त होगा वह बहुव्रीहि होता है।

"इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य" अर्थात् इन्द्र है शत्रु जिसका वह बढ़े। लेकिन जहाँ आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त (शत्रु का 'त्रु' उदात्त) होगा वहाँ तत्पुरुष होगा—**"इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता।"** अर्थात् इन्द्र का शत्रु (वृत्र) बढ़े। ऋत्विजों को षष्ठी तत्पुरुष समास से निष्पन्न **'इन्द्रशत्रुः'** ही अभीप्सित था लेकिन ऋत्विजों ने भ्रमवश अन्तोदात्त उच्चारण न करके आद्युदात्त पाठ किया। इसीलिए इन्द्र की वृद्धि हुई और वृत्र का नाश हुआ। मात्र स्वर (उदात्त) के उलट-पुलट होने भर से मन्त्र ने वज्र होकर यजमान का नाश किया। इसीलिए

मन्त्रोच्चारण या शब्दोच्चारण में स्वर या वर्ण का उच्चारण सम्यक् रूप से विहित है। स्वर दोष का यह उदाहरण अतिप्रसिद्ध है।

स्वरदोष का दुष्प्रभाव विशेषरूप से मन्त्रों में देखा जाता है जो इस समय अप्रचलित-सा है लेकिन वर्ण-दोष से अनर्थ तो अब भी हो ही रहा है ॥ ५२ ॥

अवक्षरमनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम् ।
अक्षता शस्त्ररूपेण वज्रं पतति मस्तके ॥ ५३ ॥

अन्वय—अवक्षरम् अनायुष्यम् विस्वरं व्याधिपीडितम् अक्षता शस्त्ररूपेण वज्रं मस्तके पतति।

शब्दार्थ—अवक्षरम् = दुष्टाक्षर, अनायुष्यम् = न आयुष्यम्, अर्थात् आयुस् (उम्र) रहित, विस्वरम् = स्वरविहीन, व्याधिपीडितम् = व्याधिपीडित, शारीरिक कष्ट से पीडित, 'व्याधि' से अभिप्राय है शारीरिक कष्ट से, अक्षता = जो नश्वर न हो, शस्त्ररूपेण = वेद आदि शास्त्र रूप से, वज्रम् = वज्र बनकर, मस्तके = मस्तक पर, पतति = गिरता है।

हिन्दी—दुष्टाक्षर (वेद) आयु-नाशक होता है, (वही वेद) स्वर विहीन होने पर शारीरिक पीडा देनेवाला होता है। (सदोष वेद) अक्षत शस्त्र रूप से वज्र होकर (यजमान के मस्तक) पर गिरता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त शिक्षा में जो बात कही गयी है लगभग उसी बात की प्रस्तुत शिक्षा में आवृत्ति हुई है।

१. दुष्टाक्षर—आयुर्नाश का कारण है।

२. स्वरदोष—शरीरिक कष्ट का कारण है।

सम्पूर्ण रूप से सदोष शास्त्र वज्र होकर अक्षत (अप्रतिहत) शस्त्र रूप से वक्ता के माथे पर गिरता है अर्थात् नाश करता है।

५१वीं शिक्षा से 'ब्रह्म' (वेद) की अनुवृत्ति-सी आयी है अध्याहार के लिए। इसीलिए दुष्टोच्चारण की निन्दा की गई है। अन्यत्र 'अवक्षरं ह्यनायुष्यं''

पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ होता है—आयुः का नाशक। अनायुष्यम्—'न आयुष्यम्' यहाँ आयुस्रहित अर्थ है ॥ ५३ ॥

हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥ ५४ ॥

अन्वय—यः हस्तहीनं तु स्वरवर्णविवर्जितम् (ब्रह्म) अधीते ऋग्यजुः-सामभिः दग्धः वियोनिम् अधिगच्छति ।

शब्दार्थ—तु = परन्तु, यः = जो (पाठक), अधीते = पाठ करता है, हस्तहीनम् = हस्तसंचालन रहित होकर, स्वरवर्णविवर्जितम् = स्वर तथा वर्ण से रहित होकर, ऋग्यजुःसामभिः = ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदों से, दग्धः = जला हुआ, जलकर, वियोनिम् = नीच योनि को, अधिगच्छति = प्राप्त करता है अर्थात् शूकर आदि नीच योनियों में जन्म लेता है ।

हिन्दी—जो (पाठक) हस्तसंचालन रहित होकर तथा स्वर एवं वर्ण से रहित होकर (वेदों का) पाठ करता है (वह) ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदों से जलकर नीच योनि में जन्म लेता है ।

व्याख्या—शिक्षाकार ने ही पूर्व में मन्त्र के पाठ में हस्त-सञ्चालन की ओर निर्देश किया है—हाथ को हृदय पर रखकर अनुदात्त का, मूर्धा पर रखकर उदात्त का तथा कर्णमूल में रखकर स्वरित का उच्चारण किया जाना चाहिए—

अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः ।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥

पाठक को पाठ काल में इस निर्देश को ओर ध्यान देना चाहिए अन्यथा हस्त-सञ्चालन नहीं होने पर पाठक की हानि होगी । क्योंकि वेदों का पाठ तो प्रभुसम्मित उपदेश है—इसका अतिक्रमण क्षम्य नहीं है ॥ ५४ ॥

हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम् ।
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ५५ ॥

अन्वय—यः स्वरवर्णार्थसंयुतं वेदं हस्तेन अधीते। ऋग्यजुःसामभिः पूतः (सः) ब्रह्मलोके महीयते।

शब्दार्थ—हस्तेन = हस्तसञ्चालनपूर्वक, स्वरवर्णार्थसंयुतम्—स्वर, वर्ण तथा अर्थ-ज्ञान के साथ, यः + अधीते = जो पाठ करता है, अध्ययन करता है, ऋग्यजुः-सामभिः = ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदों से, पूतः = पवित्र होकर, ब्रह्मलोके = ब्रह्मलोक में, महीयते = पूजित होता है।

हिन्दी—जो (पाठक) स्वर, वर्ण तथा अर्थ-ज्ञान के साथ हस्तसञ्चालन-पूर्वक वेद का पाठ करता है वह (पाठक) ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद से पवित्र होकर ब्रह्मलोक में पूजित होता है।

व्याख्या—वेदों की ज्योति से जलने तथा पवित्र होने की बात शिक्षाकार ने कही है ॥ ५५ ॥

शङ्करः शाङ्करीं प्रादाद्दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः ॥ ५६ ॥

अन्वय—शङ्करः वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य शाङ्करीं देवीं वाचं धीमते दाक्षीपुत्राय प्रादात् इति स्थितिः।

शब्दार्थ—शङ्करः = शिव, शाङ्करीम् = शंकरसम्बन्धी विद्या (व्याकरण विद्या तथा शिक्षा विद्या) को, प्रादात् = दिया, ददौ, दाक्षीपुत्राय = पाणिनि के लिए, धीमते = बुद्धिमान् के लिए, वाङ्मयेभ्यः = वैदिक वाङ्मय से, समाहृत्य = संग्रह करके, देवीं वाचम् = देवी वाणी को अर्थात् व्याकरण विद्या तथा शिक्षा को, इति स्थितिः = यह सम्प्रदाय है।

हिन्दी—शिव जी ने वैदिक वाङ्मय से संग्रह कर स्वसम्बन्धिनी व्याकरण विद्या तथा शिक्षा विद्या को बुद्धिमान् दाक्षीपुत्र पाणिनि को दिया, यह सम्प्रदाय है।

व्याख्या—प्रस्तुत शिक्षा प्रक्षिप्त-सी है। क्योंकि शिक्षाकार पाणिनि स्वयं के लिए 'दाक्षीपुत्राय' क्यों कहते ? यदि कहते ही तो '**मह्यम्**' कहे होते। प्रतीत होता है—इस शिक्षा का निर्माता पाणिनीतर आचार्य है जो इसकी स्वीकृति देता है कि पाणिनि को स्वयं शिवजी ने व्याकरण तथा शिक्षा दी।

"वास्तव में शिक्षा में आदि गुरु शङ्कर ही हैं, जिन्होंने अपने १४ सूत्रों के द्वारा सर्वप्रथम पाणिनि को इन ध्वनियों का रहस्य बताया। फिर, पाणिनि ने उसके आधार पर यह शिक्षा बनाई और शेष सारी शिक्षाएँ इसके आधार पर बनीं।"[१]

सचमुच, भगवान् शिव ने समस्त वाङ्मय से सार निकाल कर इस शांकरी दिव्य वाणी का बुद्धिमान् दाक्षीपुत्र पाणिनि को उपदेश दिया है। यही इस शास्त्र की स्थिति (वास्तविकता) है ॥ ५६ ॥

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५७ ॥

अन्वय—महेश्वरात् अक्षरसमाम्नायम् अधिगम्य येन कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तम्, तस्मै पाणिनये नमः।

शब्दार्थ—येन = जिसके द्वारा, जिसने, अक्षरसमाम्नायम् = अक्षर समाम्नाय को, अधिगम्य = प्राप्त कर, महेश्वरात् = शिवजी से, महेश्वर से, कृत्स्नम् = सम्पूर्ण, व्याकरणम् = व्याकरण शास्त्र, प्रोक्तम् = कहा गया, कहा, तस्मै = उस, पाणिनये = पाणिनि को, नमः = नमस्कार है।

हिन्दी—शिव जी से अक्षरसमाम्नाय को प्राप्त कर जिस (महर्षि) ने सम्पूर्ण व्याकरण का व्याख्यान किया है, उन्हीं पाणिनि को नमस्कार है।

व्याख्या—प्रस्तुत शिक्षा में यह स्पष्ट हो गया कि आचार्य पाणिनि ने व्याकरण का दिव्य ज्ञान शिव जी से प्राप्त करके ही व्याकरण का प्रवचन किया है

१. भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि—पृ० ४०

और यह भी स्पष्ट हो गया कि शैव सम्प्रदाय का यह आचार्य सर्वाधिक प्रसिद्ध है। प्रस्तुत शिक्षा निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है, क्योंकि शिक्षाकार पाणिनि स्वयं के लिए "तस्मै पाणिनये नमः" नहीं कह सकते। बल्कि पाणिनीतर आचार्य "तस्मै पाणिनये नमः" कह कर पाणिनि की प्रशंसा करते हैं ॥ ५७ ॥

येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५८ ॥

अन्वय—येन पुंसां गिरः विमलैः शब्दवारिभिः धौताः, अज्ञानजं तमः भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः।

शब्दार्थ—येन = (जिसने), जिसके द्वारा, धौताः = क्षालित हुई, धोयी गयी, गिरः = वाणी, पुंसाम् = पुरुषों की, विमलैः = स्वच्छ, विमल, शब्दवारिभिः = शब्दरूपी जल से, तमः = अन्धकार को, च = और, अज्ञानजम् = अज्ञानता से उत्पन्न, भिन्नम् = नाश किया है, तस्मै = उस, पाणिनये = पाणिनि को, नमः = नमस्कार है।

हिन्दी—जिसने (पाणिनि ने) पुरुषों की वाणी का विमल शब्दरूपी जल से प्रक्षालन किया है तथा अज्ञानता से उत्पन्न अन्धकार का नाश किया है, उस पाणिनि को नमस्कार है ॥ ५८ ॥

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५९ ॥

अन्वय—येन अज्ञानान्धस्य लोकस्य चक्षुः ज्ञानाञ्जनशलाकया उन्मीलितम् तस्मै पाणिनये नमः।

शब्दार्थ—अज्ञानान्धस्य = अज्ञानता के कारण अन्धे, लोकस्य = जीव लोक की, चक्षुः + उन्मीलितम् = नेत्र को उन्मीलित किया है, ज्ञानाञ्जनशलाकया = ज्ञानाञ्जनशलाका द्वारा, येन = जिसने, तस्मै = उस, पाणिनये = पाणिनि को, नमः = नमस्कार है।

हिन्दी—जिस (महर्षि पाणिनि) ने अज्ञानान्ध लोक के नेत्रों को ज्ञान की अञ्जनशलाका से उन्मीलित किया है; उन महर्षि पाणिनि को नमस्कार है ॥ ५९ ॥

त्रिनयनमभिमुखनिःसृतामिमां

य इह पठेत् प्रयतश्च सदा द्विजः ।

स भवति धनधान्यपशुपुत्रकीर्तिमा-

नतुलं च सुखं समश्नुते दिवीति दिवीति ॥ ६० ॥

अन्वय– यः प्रयतः द्विजः इह त्रिनयनम् अभिमुखनिःसृताम् इमाम् सदा पठेत स धनधान्यपशुपुत्रकीर्तिमान् भवति, च दिवि दिवि अतुलं सुखं समश्नुते ।

शब्दार्थ—त्रिनयनम् + अभिमुखनिःसृताम् + इमाम् = शिव जी के मुख से निःसृत इसको अर्थात् (शिक्षा को), यः = जो, इह = इस संसार में, पठेत् = पढ़ता है, प्रयतः = (प्र + यम् – क्त) नियन्त्रित, जितेन्द्रिय, आत्मसंयमी, सोत्साह, द्विजः = द्विज, ब्राह्मण, दिवि = स्वर्ग में, अतुलं = अतुलनीय, सुखं = सुख को, समश्नुते = सम्यक् रूप से प्राप्त करता है ।

हिन्दी—जो जितेन्द्रिय द्विज इस संसार में शिव जी के मुख से निकली हुई इस (शिक्षा) को हमेशा पढ़ता है, वह धन, धान्य, पशु, पुत्र तथा कीर्तिमान् होता है तथा स्वर्ग में अतुलनीय सुख को प्राप्त करता है ।

व्याख्या—दिवीति दिवीति—इस द्विरुक्ति का प्रयोग कुछ लोग समाप्ति का मानते हैं—"अत्र दिवीति द्विर्वचनम् समाप्तिसूचकम् ।" किसी भी ग्रन्थ में तीन चीजें आवश्यक होती हैं—(१) विषय, (२) अधिकारी और (३) प्रयोजन । इस ग्रन्थ का विषय क्या है ? इसके उत्तर में प्रथम श्लोक में ही कहा गया—**"अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि"** अर्थात् 'शिक्षा' अर्थात् वर्णोच्चारण विधि (ध्वनि विज्ञान) । इसके अधिकारी के रूप में 'द्विज' को कहा गया है तथा विषय रूप

शिक्षा का निरन्तर पाठ करने से प्रयोजन रूप **"धनधान्यपशुपुत्रकीर्तिमान्"** तथा अतुल सुख की प्राप्ति करता है। इस तरह यहाँ विषय-अधिकारी-फल (प्रयोजन) तीनों का निर्देश है ॥ ६० ॥

अथ शिक्षामात्मोदात्तश्च हकारं स्वराणां यथा ।
गीत्यचोस्पृष्टोदात्तं चाषस्तु शंकर एकादश ॥ ६१ ॥

अन्वय--अथ शिक्षाम् आत्मा उदात्तः च हकारं स्वराणाम् यथा गीती अचोस्पृष्टा उदात्तम् चाषस्तु शङ्करः एकादश ।

हिन्दी—'अथ शिक्षाम्' से प्रथम, 'आत्मा बुद्ध्या' से द्वितीय, 'उदात्तश्चानुदात्तश्च' से तृतीय, 'हकारं पञ्चमैर्युक्तम्' से चतुर्थ, 'स्वराणामूष्मणाञ्चैव' से पञ्चम, 'यथा सौराष्ट्रिका नारी' से षष्ठ, 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी.....' से सप्तम, 'अचोस्पृष्टाः.....' से अष्टम, 'उदात्तमाख्याति वृषो.....' से नवम्, 'चाषस्तु वदते मात्रां.....' से दशम तथा 'शङ्करः शांकरीं प्रादाद्दाक्षीपुत्राय ' से एकादश खण्ड का आरम्भ माना जाता है।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य संग्रह-पद्य है। प्रत्येक खण्ड में ५-५ पद्य हैं और कुल एकादश खण्ड हैं, इसीलिए ११ × ५ = ५५ कुल हैं और एक संग्रह पद्य है तो कुल मिलाकर ५६ पद्य हैं। संग्रह पद्य को भी प्रक्षिप्त होना चाहिए क्योंकि किसी समीक्षक ने शिक्षा की ५५ पद्यों की संख्या को सुरक्षित रखने के लिए ही इसका निर्माण किया होगा। इसीलिए संग्रह पद्य ६१वें को छोड़कर कुल संख्या ६० होती है और एकादश खण्ड के अनुसार इनमें ५ संख्या अधिक है। जो संख्या अधिक है वह प्रक्षिप्त है। श्री नारायण मिश्र जी ने २८, ३४, ४४, ५२ और ५४ को प्रक्षिप्त माना है। जबकि पण्डित विश्वेश्वर झा ने २८ आदि को प्रक्षिप्त नहीं माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि ने स्वयं ५६, ५७, ५८, ५९, ६० श्लोकों में 'स्व' नाम का उल्लेख नहीं किया होगा। बल्कि पाणिनि के प्रशंसकों ने ५५ के बाद ५६वें से लेकर ६०वें श्लोक तक पाणिनि को नमस्कार किया है। इसीलिए इन्हीं ५ श्लोकों को प्रक्षिप्त मानना चाहिए। एकादश खण्ड होने के कारण यह शिक्षा **"एकादश खण्डात्मिका"** कहलाती है।

शिक्षाश्लोकानुक्रमणिका

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. **अष्टाध्यायी सूत्रपाठः**

प्रकाशक—पाण्डुरङ्ग जावजी, निर्णयसागर प्रेस, २६–२८ कोलभाट लेन, बम्बई, शाकः १८५६ सन् १९३४।

२. **संस्कृत-इङ्गलिश-डिक्शनरी**

एम० एम० विलियम्स, प्रकाशक—मोतीलाल-बनारसीदास दिल्ली-वाराणसी-पटना १९७६।

३. **ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्**

व्याख्याकार—डॉ० वीरेन्द्रकुमार वर्मा, प्रकाशक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी–५, १९७० (प्रथम संस्करण)।

४. **ऋग्वेदप्रातिशाख्य (एक परिशीलन)**

डॉ० वीरेन्द्रकुमार वर्मा, प्रकाशक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५ प्रथम संस्करण–१९७२।

५. **कैय्यट प्रदीप**

६. **"क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनेटिक ऑबजर्वेशन्स ऑफ इण्डियन ग्रैमेरियन्स"**

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा

७. **तैत्तिरीय प्रातिशाख्य**

८. **नारदीय शिक्षा**

९. **पाणिनीय शिक्षा**

पं० रुद्रप्रसाद अवस्थी, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस वाराणसी–१, १९७२।

१०. **पाणिनीय शिक्षा**

श्रीनारायण मिश्र, प्रकाशक—चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी–१९७८।

११. पाणिनीय शिक्षा
गोस्वामी प्रह्लाद गिरि, प्रकाशक—चौखम्बा सीरिज ऑफिस, वाराणसी–१९८७।

१२. पाणिनीय शिक्षा
प्रकाशक—पाण्डुरङ्ग जावजी, निर्णयसागर प्रेस, २६–२८ कोलभट लेन, बम्बई, शाकः–१८५६, सन्–१९३४।

१३. फोनेटिक्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया—डब्ल्यू० एस० एलेन

१४. फोनेटिक्स—के० एल० पाइक, मिचिगन, पी० यू० १९६१।

१५. भारद्वाज शिक्षा
सम्पादक—वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार एण्ड पी० एस० सुन्दरम् अय्यर—भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पुणे–४, १९३८।

१७. "भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि"—डॉ० रामदेव त्रिपाठी
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना–४, प्रथम संस्करण–१९७७।

१७. भाषाविज्ञान की भूमिका—आचार्य नरेन्द्रदेव शर्मा
प्रकाशक—ओमप्रकाश, राधाकृष्ण प्रकाशन २, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली–६ (१९६८)।

१८. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी–१
द्वितीय संस्करण–१९८६।

१९. लघुसिद्धान्त कौमुदी—महेश सिंह कुशवाहा
प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१ (१९७९)।

२०. लघुसिद्धान्त कौमुदी
वैद्य भीमसेन शास्त्री, प्रकाशक—वैद्य भीमसेन शास्त्री, ५४७, लाजपत राय मार्केट दीवान हाल के सामने, दिल्ली–६।

२१. लोमश शिक्षा

२२. वाक्यपदीय

चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी ।

२३. वैदिक स्वरबोध

ब्रजबिहारी चौबे, प्रकाशक—वैदिक साहित्य सदन, बहादुरपुर चौक होशियारपुर (पञ्जाब), प्रथम संस्करण–१९७२ ।

२४. संस्कृत-हिन्दी-कोश

वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, पटना (१९६९) ।

२५. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास

आचार्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक (अनु०—रामनाथ त्रिपाठी शास्त्री) प्रकाशक—चौखम्बा ओरियण्टालिया, गोकुल भवन, के० ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी–१ (१९८३) ।

२६. स्वरवैदिक प्रश्नोत्तरी

श्री विश्वेश्वर झा, प्रकाशक—जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, विद्याविलास प्रेस, बनारस, सं० २००९, द्वि०सं० १९५२ ।

२७. हिन्दी ऋग्वेद भाष्य भूमिका

जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१, १९६८ ।

●

हमारे महत्त्वपूर्ण व्याकरण सम्बन्धी प्रकाशन

पुस्तक	लेखक
अनुवाद-कला अथवा वाग्व्यवहारादर्श	*चारूदेव शास्त्री*
चन्द्र-संस्कृत व्याकरण	*नेमिचन्द्र शास्त्री*
निघण्टु तथा निरुक्त	*लक्ष्मण स्वरूप*
धातुपाठ	*सं० जगदीशलाल शास्त्री*
नवीन अनुवाद चन्द्रिका	*चक्रधर हंस नौटियाल*
बृहद-अनुवाद-चन्द्रिका	*चक्रधर हंस नौटियाल*
भाषा (ब्लूमफील्ड की Language का हिन्दी अनुवाद)	*अनु० विश्वनाथ प्रसाद रामनाथ सहाय*
भाषा-विज्ञान (The Science of Language)	*एफ० मैक्समूलर, अनु० उदयनाथ तिवारी*
वैदिक व्याकरण	*आर्थर एन्थोनी मैकडोनल सत्यव्रत शास्त्री*
वैयाकरण भूषणसार	*प्रभाकर मिश्र*
वैयाकरण भूषणसार चन्द्रिका	*हरिशंकर शर्मा*
वैयाकरण सिद्धांतकौमुदी	*गिरिधर शर्मा, परमेश्वरानन्द शर्मा*
वैयाकरण-सिद्धांतकौमुदी भट्टोजि-दीक्षित विरचित (संस्कृत)	*सभापति शर्मा*
वैयाकरण-सिद्धांत कौमुदी-प्रयोगसूची (सिद्धांत कौमुदी विमलालोक)	*जगदीश चन्द्र शास्त्री*
वैयाकरण-सिद्धांतकौमुदी भट्टोजि-दीक्षित विरचित (समास प्रकरण)	*जगदीशलाल शास्त्री, मधुबाला शर्मा*
वैयाकरण-सिद्धांतकौमुदी (स्त्री प्रत्यय)	*श्रीरामकरण शर्मा एवं रामविलास चौधरी*
वैयाकरण-सिद्धांतकौमुदी-भट्टोजि-दीक्षित विरचित	*व्या० एवं सं० रामविलास चौधरी*
व्याकरण चन्दोदय	*चारूदेव शास्त्री*
व्याकरण-महाभाष्य-भगवत्पतञ्जलि विरचित नवाह्निक प्रथम	*अनु० एवं० व्या० चारूदेव शास्त्री*
व्याकरण-महाभाष्य-भगवत्पतञ्जलि विरचित (प्रथम अह्निकत्रय)	*चारूदेव शास्त्री*
सोम संस्कृत व्याकरण	*शंकरदत्त शास्त्री*

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कलकत्ता, बंगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना

मूल्य : रु० २२